सत्य-दर्शन

जिनेन्द्र वर्णी

•

सर्व-सेवा-सघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

सत्य-दर्शन

●

जिनेन्द्र वर्णी

●

संस्करण : पहला

●

प्रतियाँ : १,०००
अक्तूबर १९८२

●

मूल्य : सात रुपये

●

प्रकाशक
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

●

मुद्रक
शीला प्रिण्टर्स,
लहरतारा, वाराणसी

श्री लक्ष्मीनारायण
देवस्थान ट्रस्ट, वर्धा, के आर्थिक
सहयोग से प्रकाशित

SATYA-DARSHAN
Jinendra Varni
Price : 7.00

प्रकाशकीय

श्री जिनेन्द्र वर्णी का यह ग्रन्थ प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है। आप जैन साधु हैं। 'समण सुत्त' की रचना में, उसकी साजसज्जा में आपका विशिष्ट हाथ रहा है। बाबा विनोबा के स्नेह का प्रसाद आपको सतत उपलब्ध रहा है। इस ग्रन्थ के लिए भी उन्होंने अपना आशीर्वाद भेजा है।

प्रस्तुत रचना पढ़ते हुए पाठक को सहज लगेगा कि यह रचना पारम्परिक रचना से भिन्न प्रकार की है। श्री वर्णी जी ने सर्वथा तटस्थ भाव से अपने विचारों को व्यक्त किया है। अत्यन्त गहन और गम्भीर विचारों को सरल से सरल भाषा में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

हम मानते हैं कि सत्य का कोई भी जिज्ञासु इसे पढ़कर निश्चय ही प्रसन्न होगा और इस पर चिन्तन-मनन करके वह सत्य को हृदयगम करने की दिशा में अग्रसर हुए बिना न रहेगा।

पुस्तक के प्रकाशन में विलम्ब हुआ, इसके लिए हम पाठकों से क्षमा माँगते हुए निवेदन करेंगे कि वे इसका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर लाभान्वित हो।

समर्पण

विचित्र आकर्षण युक्त जिसकी नेत्र-ज्योति पर पतगा
की भाँति मडरानेवाले इन दो क्षुद्र नेत्रों के मध्य
एक तृतीय व्यापक नेत्र खुल जाता है,
स्वरूप मे नित्य रमण करनेवाले
उन आत्मरामी भगवान
रमण के कर-कमलों में
श्रद्धापूर्वक उन्हीं
की यह देन
समर्पित
है।

दो शब्द

प्रभु प्रेरणा से मुझ लेखनी सहसा चल पड़ी। नहीं जानता कि वह क्या लिखनेवाली है। हो सकता है कि वह कुछ ऐसी बातें लिख डाले, जिन्हें इस लेखमाला में पढ़ने की आप आशा नहीं करते। हो सकता है कि वह कुछ ऐसी बातें लिख डाले, जो आपने कभी किसी शास्त्र में पढ़ी या सुनी न हों—न किसी दार्शनिक शास्त्र में, न धर्म शास्त्र में और न आचार शास्त्र में। फिर भी ऐसा मेरा विश्वास है कि वे सब होंगी किसी न किसी प्रकार शास्त्रसम्मत ही। हो सकता है कि भाषा शास्त्रीय न हो, पर उनमें व्यक्त किये गये भाव शास्त्रीय ही होंगे। हो सकता है कि अपनी दृष्टि के अनुसार कोई उन्हें सत्य समझे और कोई असत्य, परन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि वह सत्य ही होगा, क्योंकि प्रभु प्रेरित लेखनी से असत्य लिखना सम्भव नहीं है।

इस सन्दर्भ में यहाँ अपनी अनभिज्ञता का कुछ परिचय देना आवश्यक समझता हूँ। सम्भव है कि कुछ व्यक्ति इसे मेरी कृति मान लें, परन्तु उनका ऐसा समझना मेरी दृष्टि में कुछ उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि क्या टाइप मशीन के द्वारा लिखा गया कुछ भी उस मशीन की कृति माना जा सकता है? वास्तव में मैं एक मूर्ख बालक हूँ, बिल्कुल जड़—न है जिसे कुछ ज्ञान शास्त्रों का न ही है कुछ अनुभव अपना और न ही जिसे प्राप्त हुआ है सौभाग्य किन्हीं विद्वानों की सम्मति लेने का। अतः हो सकता है कि यह कोरा वाग्विलास ही हो, बिल्कुल व्यर्थ तथा निस्सार। फिर भी मेरा ऐसा विश्वास है कि निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक दृष्टि से पढ़ने पर आपको यह सगत ही प्रतीत होगा।

मैंने भरसक प्रयत्न किया है इस बात का कि पवित्र लेखनी के इस सहज प्रवाह में कहीं भी अपनी बुद्धि की टाँग अड़ाने का प्रयत्न न करूँ, फिर भी बहुत सम्भव है कि कहीं-कहीं मेरे इस क्षुद्र अहंकार ने ऐसी मूर्खता अवश्य की होगी, और जहाँ जहाँ ऐसा हुआ होगा, वहाँ-वहाँ अवश्य ही असत्य ने प्रवेश करके सत्य के नग्न रूप को किसी न किसी प्रकार ढकने अथवा मलिन करने का प्रयत्न किया होगा। उसके लिए विद्वद्वर इस तुच्छ बुद्धि को क्षमा करेंगे और यथायोग्य सुधार करने की कृपा करके इसे कृतार्थ करेंगे।

ऐसा भी बहुत कुछ सम्भव है कि यहाँ जो कुछ भी लिखा गया है, वह सब बाल प्रलाप मात्र ही हो, परन्तु फिर भी मुझे विश्वास है कि वह ज्ञानी जनों को

क्षुब्ध नही करेगा। अपने प्रेमपूर्ण स्वभाव को महत्ता के कारण वे इसमें भी उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करेंगे, जिस प्रकार कि बालक की निरर्थक तोतली भाषा को सुनकर पिता आनन्दित होता है। हो सकता है कि अपनी जड़ता के कारण मैं उनके लिए उपहास का स्थान बन जाऊँ, परन्तु उसमें भी मुझे आनन्द आयेगा। अपनी मूर्खता पर हँसते हुए पिता को देखकर क्या बच्चा खिलखिलाकर उनकी गोद में नही चढ़ जाता ?

न जाने क्या समझकर विधाता ने यह पवित्र लेखनी एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में सौंप दी जिसे क, ख, ग, का भी ज्ञान नही है। इसलिए हो सकता है कि अनुभव-सम्पन्न पण्डित जनो के लिए इससे निकली बातों का कुछ अधिक महत्त्व न हो, परन्तु मध्यम-श्रेणी के जिज्ञासुओ को यह आनन्द ही प्रदान करेगा, जिस प्रकार कि वर्षा-ऋतु में मेंढक की भौंडी टर-टर भी प्रिय ही लगती है। यद्यपि विद्वज्जनों के लिए यह सर्व कथन पूर्व-परिचित तथा अत्यन्त स्थूल है, तो भी हो सकता है कि इन जिज्ञासुओं को इसमें कुछ अपूर्वता तथा सूक्ष्मता का आभास मिले। सूक्ष्म होने के कारण यदि कदाचित् समझ में न आये तो धैर्यपूर्वक मनन करने का प्रयत्न करना, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

हो सकता है कि पाठकों में से कुछ, अपनी समझ के बाहर होने के कारण इसे ठीक प्रकार न समझ सकें, और पढ़ने में अपने समय का अपव्यय हुआ जान निराश हो जायें, अथवा मुझसे रुष्ट हो जायें। मैं उनसे विनयपूर्वक क्षमा मांगता हूँ, इसलिए कि अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयत्न किया जाने पर भी संक्षिप्त होने के कारण यह सम्भवत. इतना अधिक सरल नही हो पाया है, जितना कि वे आशा करते थे।

यद्यपि गुरुकृपा से मुझे यह भान है कि जिस विषय का कथन करने के लिए यह लेखनी चली है, उस विषय में ऋषियो को मौन रह जाना पड़ा है, यद्यपि मैं जानता हूँ कि उसका ठीक-ठीक प्रतिपादन करने के लिए मूक भाषा ही समर्थ है; तदपि न जाने क्यो यह हृदय वाचाल हुआ जा रहा है ? सम्भवत: इसलिए कि उसका ठीक-ठीक ज्ञान इसे हो नही पाया है, अथवा इसलिए कि उसकी अपार महिमा इसके छोटे-से घरोंदे मे समा नही पा रही है, अथवा इसलिए कि आनन्द-सागर में उठे ज्वार को दबाने में यह समर्थ नही हो पा रहा है। इस विषय में आप जो समझें, वही मुझे स्वीकार है, परन्तु मेरी प्रभु से यह प्रार्थना है कि ये टूटे-फूटे दो शब्द आपके लिए मङ्गलकारी हो।

इस लेखमाला को पाँच खण्डो में विभाजित करके देखा जा सकता है। यथा—

१ सजीव अध्ययन : शब्दजात कृत्रिम शास्त्रों को छोड़कर निष्पक्ष भाव से प्रकृति माँ की इस खुली पुस्तक का अध्ययन करने की विधि ।

२ सृष्टि विज्ञान सृष्टि प्रलय के सिद्धान्त का मौलिक महत्त्व और उसके स्वरूप का विज्ञान मान्य चित्रण ।

३ सत्य दर्शन सृष्टि में सर्वत्र सर्वदा अनुगत चिदानन्द स्वभावी किसी एक महातत्त्व का स्वरूप प्रदर्शन ।

४ सत्य धर्म अपने क्षुद्र 'अहं' को उस महासत्य के अखण्ड 'अहं' में लीन करके बिन्दु से सागर बन जाने का उपाय, समता-युक्त विशाल प्रेम ।

५ सत्य पुरुषार्थ उस महाप्रभु की शरणापत्ति के द्वारा संसरण-मुक्ति ।

इस प्रकार समस्त दर्शन शास्त्र का तथा आचार शास्त्र का वह अति गम्भीर तथा विस्तीर्ण, विषय जिसका प्रतिपादन करके सैकड़ों विशालकाय शास्त्र भी सन्तुष्ट नहीं हुए इस छोटी सी पुस्तक में कैसे निबद्ध किया सकता है ? यह केवल एक भावावेश है इसलिए जिज्ञासु पाठकों से मेरा अनुरोध है कि हिन्दी भाषा की सरल पुस्तक समझकर इसे जल्दी जल्दी न पढ़ें । दर्शन शास्त्र समझकर मननपूर्वक धीरे धीरे अध्ययन करने पर ही इसके रहस्य का कुछ स्पर्श किया जा सकता है ।

वक्तुं स्वरूपमतुलं तव बोधिमालो,
कस्ते क्षम सुरगुरु प्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।
कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं,
को वा तरितुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥

हे अनन्त किरणाकर ! तेरे अतुल स्वरूप को कहने के लिए देवगुरु बृहस्पति के तुल्य बुद्धि के द्वारा भी, कौन समर्थ है ? कल्पान्त काल की आँधी से क्षुब्ध तथा कम्पित नक्र चक्रों से युक्त सागर को भुजाओं द्वारा तरने के लिए कौन समर्थ है ?'

चिदानन्दैक सत्याय सत्वाय परमात्मने ।
स्वयं स्पन्दयोगेन विश्वभूताय ते नमः ॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्शंकर एव च ।
तस्य पादाम्बुजं नित्यं चित्ते तिष्ठतु मे प्रभो ॥

सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप उस एक तत्त्व को नमस्कार हो, जो अपनी स्पन्दशक्ति के द्वारा स्वयं विश्वरूप हो गया है ।

'गुरु ही ब्रह्मा है गुरु ही विष्णु है और गुरु ही शंकर है । हे प्रभो ! उनके चरण सरोज नित्य ही मेरे चित्त में निवास करें ।'

—जिनेन्द्र वर्णी

बाबा विनोबा का आशीर्वाद

पूज्य बाबा के पावन चरणों में विनीत प्रणाम।

सन् १९७१ का श्रावण मास था। सारनाथ के जैन-मन्दिर में ठहरा हुआ था। न कुछ विचार था, न संकल्प-विकल्प। इस मौन को भंग करते हुए एक भक्त ने एक कापी और एक पैन मेरे सामने रख दिया और कहा कि सन् १९६८ में एक महीने तक जो धारावाही प्रवचन बनारस में हुए थे, उन्हें प्रकाशनार्थ लिपिबद्ध कर दीजिये। उनकी प्रसन्नता के अर्थ कुछ अनमने भाव से लेखनी चली। मैं नहीं जानता था कि वह क्या लिखे जा रही है। चित्त शून्य रहता रहा और लेखनी चलती रही। परिणामतः प्रभु-कृपा से 'सत्य-दर्शन' नाम की यह छोटी-सी कृति हाथ में आ गयी। पढ़कर स्वयं मुझको आश्चर्य हुआ कि एक जैन साधु की लेखनी ने 'ब्रह्म सत् जगत्स्फुर्णा' की वेदान्त-मान्य यह रहस्यात्मक बात कैसे लिख दी, जबकि आज तक मैंने वेदान्त का गहरा अध्ययन किया नहीं था। प्रभु का अहैतुकी उपहार समझ कर आज तक इसको हृदय मे लगाये रखा। जैन सम्प्रदाय के मतलब की वस्तु न होने से यह प्रकाश में नहीं आ सकी।

'सत्य-दर्शन' नाम की यह पुस्तक सर्व-जनोपयोगी बाल भाषा में एक ऐसे सर्वशक्तिमान चेतन तथा निराकार विभु तत्व का कलापूर्ण वैज्ञानिक संक्षिप्त चित्रण प्रस्तुत करती है, जिसे यद्यपि जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता, परन्तु वेदांत आदि सकल भारतीय तथा अनेक अभारतीय दर्शन का वह प्राण है। महासागर की तरंगों की भाँति यह सकल बाह्याभ्यन्तर विस्तार उसी में से स्वत. स्फुटित हो होकर उसी में लीन होता है। तात्त्विक नेत्र मुंदे होने के कारण लौकिक जन उत्पन्न-ध्वंसी इन क्षणिक स्फुरणाओं को तात्विक विस्तार न समझ कर स्वतंत्र पदार्थ मान बैठते हैं और इन में ही अहंकार, ममकार करते हुए सदा संसरण करते रहते हैं। तत्वदृष्टि-सम्पन्न ज्ञानीजन इसे केवल उसका विलास देखते रहने के कारण इसमें रहते हुए भी अहंकार, ममकार के द्वारा, रागद्वेष के द्वारा अपने चित्त को क्षुब्ध नहीं होने देते। सदा समरस का पान करते हुए जल में कमल की भाँति इसमें वर्तन करते हैं।

इस ग्रन्थ को पाँच खण्डों में विभक्त करके देखा जा सकता है। प्रथम खण्ड है—'सजीव अध्ययन'; जिसमें शास्त्र है प्रकृति माँ की यह खुली पुस्तक अर्थात् विश्व

और अक्षर हैं इसके विविध जड़ चेतन पदार्थ, जिन्हें साक्षर या निरक्षर सभी बिना किसी पक्षपात के नित्य पढ़ते हैं, परन्तु विचार नहीं करते। द्वितीय खण्ड है—सत्य नाम 'समष्टि व्यष्टि विज्ञान', जिसमें यह समष्टि है, उसकी तरंगें, उससे स्फुरित उसके कार्य। तृतीय खण्ड है 'सत्य-दर्शन—प्रभु-दर्शन', जिसमें सर्वत्र सर्वदा एक रूप से अवस्थित पूर्वोक्त परम तत्त्व ही है सत्य, मेरे प्रभु, सच्चिदानन्द भगवान, जिसमें से यह सारा जगत निकला चला जा रहा है और जिसमें लीन हुआ जा रहा है। चतुर्थ खण्ड है—'सत्यधर्म'—समता व प्रेम, जिसमें समता युक्त उस विशाल प्रेमी को जीवन का सर्वस्व बताया गया है, जिसके द्वारा इस अखिल समष्टि का आत्मसात् हो जाने से व्यक्ति का क्षुद्र अहं विभु बन जाता है, और यही है उसकी मुक्ति। पंचम खण्ड है 'सत्य पुरुषार्थ'—आत्म-समर्पण जिसके अनुसार व्यक्ति अपने मानसिक विकल्पों से ऊपर उठकर स्वामित्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व विषयक अपनी सकल बुद्धियों को प्रभु के चरणों में समर्पण करके हल्का हो जाता है। यही है धर्म की प्राप्ति का सरलतम उपाय।

> यक्तु स्वरूपमतुलं तव धीचिमाली,
> कस्ते क्षम सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्धया।
> कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्रं,
> को वा तरितुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥

यद्यपि महानतम विषय का इस प्रकार प्रतिपादन करने का साहस करना बाल-प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं है, तथापि मुझे आशा है कि आशीर्वाद के रूप में दो शब्द देकर मुझको कृतार्थ और इस कृति को गौरवान्वित करेंगे!

जिनेन्द्र वर्णी

सत्य-दर्शन

१

सजीव अध्ययन

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवई जीवो॥

"समस्त नामरूपगत अनित्य पदार्थों या पर्यायों को लक्ष्य करनेवाला व्यावहारिक कथन अभूतार्थ है, और उनमें अनुगत किसी एक नित्य तत्त्व को लक्ष्य करनेवाले शुद्ध वक्तव्य को ज्ञानियों ने भूतार्थ कहा है। इस भूतार्थ कथन के पठन-पाठन तथा चिन्तन से ही जीव परमार्थ दृष्टि को प्राप्त होता है।"

१. गम्भीर पहेली

क्यो चिन्तित-से प्रतीत हो रहे हो प्रभु ? शक्तिमान् होते हुए भी अशक्त-से, व्यापक होते हुए भी सकीर्ण-से, मधुर होते हुए भी कटु-से और सुन्दर होते हुए भी कुरूप से क्यो दिखाई दे रहे हो नाथ ? कैसी विचित्र लीला है यह कुछ, उल्टी-सी ? पर क्यों ? भ्रान्ति उत्पन्न करने के लिए ? पर किसे और क्यो ? क्या अपने को ही ? आहा हा ! कितने सुन्दर तथा चतुर बहुरूपिये हैं आप ? कुछ समझ में नहीं आता कि क्या खेल है यह सब कुछ, बाहर में और भीतर मे सर्वत्र ही ?

परन्तु हे सुन्दर ! कब तक प्रयत्न करते रहोगे छिपने का और छिपाने का अपने इस मधुमय रूप को, मुझसे और अपने ही इस अखिल विस्तार से ? और कब तक सफल हो सकेगा आपका यह निष्फल प्रयास ? क्या सत्य छिपा है कभी छिपाने से ? हे प्रभो ! हे भगवन् ! फिर किस प्रयोजन से इस जगत् को भ्रम में डाल रखा है ? क्यों अपना सर्वांग-सुन्दर रूप नही दिखाते ?

ओह ! समझा, जगत् तो स्वयं ही असत्य है। असत्य को भ्रम या अभ्रम कैसा ? असत्य को असत्य के पर्दे मे कैसे छिपाये कोई ? जो स्वयं भ्रम है, उसे भ्रम कैसे उत्पन्न कराये कोई ? बुद्धि चकराती है नाथ ! बुद्धि से अगोचर इस विचित्र खेल को बुद्धि द्वारा समझा ही कैसे जा सकता है ? क्षमा कीजिये भगवन् ! आपको बुद्धि द्वारा समझने का और समझाने का मेरा यह अहंकार भी तो असत्य ही है, उसी जगत् का एक अश।

हे विभो ! क्या प्रत्यक्ष दीखनेवाला यह अखिल बाह्याभ्यन्तर विस्तार वास्तव में असत्य है, अथवा मुझे बच्चा जानकर बहकाने का आपका कोई प्रयास है ? भोले-भोले बच्चो को बहकाकर पितृजन प्रसन्न हुआ करते है न ! नही-नही बहकाव नही है, वास्तव में ही असत्य है, सत्यवत् प्रतीत होता है। असत्य का सत्यवत् प्रतीत होना ही वास्तव में बहकाव है, असत्य को असत्य देखना नहीं।

यदि ऐसा ही है तो मुझे यह सत्यवत्, नही नहीं साक्षात् सत्य ही क्यों दीख रहा है ? दीख नही रहा है भगवन् ! वास्तव में है ही सत्य। न विश्वास

आता हो तो पूछ लो इन सबसे। आबाल गोपाल सभी तो समर्थक हैं मेरे। आप सशय मे पुन सशय क्यो उत्पन्न करना चाहते हैं ?

"बाह्य और अभ्यन्तर के इस अखिल विस्तार की क्या कोई अपनी मौलिक सत्ता है, अथवा चित्र विचित्र ये अनेक पदार्थ किसी एक ऐसे सत्ताभूत पदार्थ के कार्य हैं, जो कि इन सबके मूल मे छिपा होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म अथवा निगूढ होने के कारण हमारी स्थूल तथा बाह्य दृष्टि का विषय नही बन पा रहा है", यह बात यहा विचारणीय है।

सत्य तथा असत्य की, कारण तथा कार्य की, गम्भीर पहेली को बूझने मे उलझी हुई बेचारा यह क्षुद्र बुद्धि बराबर बही चली जा रही है, न जाने कब से, कहा से और कैसे, गिरती पडती, रोती-चिल्लाती, बिना इस बात की चिन्ता किये कि क्या वास्तव म वह इसको बूझने म सफल भी हो सकेगी कभी ? परन्तु यह भी तो नही कहा जा सकता कि आज तक इसे यह सौभाग्य हो प्राप्त नही हुआ है कभी। अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं उन प्राचीन ऋषि-महर्षियो के, जिन्होने जाना है इसे और आज भी विद्यमान हैं अनेक ऐसे महात्मा जन, इसी पृथिवी मण्डलपर जो देख रहे हैं प्रत्यक्ष इस रहस्य को।

परन्तु मेरे ऐसा कहने का मूल्य ही क्या ? क्योकि यह है विषय श्रद्धा का अथवा प्रत्यक्ष का। आपमे से जिन्हे श्रद्धा है मुझ पर और उन ऋषि-महर्षियो पर, अथवा मेरे द्वारा बोले गये शब्दो पर, और उनके द्वारा लिखे गये शब्दो पर अथवा जिनको सौभाग्य प्राप्त हुआ है स्वय इस महा रहस्य को साक्षात् करने का, उनके लिए अवश्य इस बात का कुछ मूल्य हो तो हो, परन्तु श्रद्धा तथा प्रत्यक्ष इन दोनो से विहीन शेष जगत् के लिए तो वाग्विलास के अतिरिक्त और है ही क्या यह ?

२ भूल-भुलैया

ओह! कितने सुन्दर तथा चतुर कलाकार हैं आप, यह अखिल विश्व है जिसका एक छोटा सा गवाह। कौन गा सकता है महिमा आपकी इस गहन कला की, अथाह है जो। देखिये, कितना सुन्दर तथा विस्मयकारी बनाया है आपने यह जगत्रूप माया-महल, यह लाक्षाग्रह, एक भूल भुलैया। सब कमरे, गलिया तथा पदार्थ हैं इसम एक समान, अनेक हैं इसके द्वार, प्रत्ये,

पर एक प्रहरी, बड़ा कुशल तथा चतुर, आप के ही समान। क्यों न हो, आप की ही उपज है न वह। कारण के अनुसार ही कार्य का होना न्यायसिद्ध है।

पर कौन साहस कर सकता है प्रवेश पाने का इसमे, अनेक परकोटे घेरकर खड़े हैं जिसको? कितने ऊँचे हैं ये सब और कितने सुदृढ़? कौन उल्लघन कर सकता है इनको, इन पर चढ़कर? और कौन भेदन कर सकता है इनका, बिना ज्ञान के। भारी-भारी तोपों के प्रहार भी हिमालय पर फेंके गये तृणोवत् व्यर्थं हो जाते है यहाँ। तिस पर भी चारों ओर से इसकी रक्षा करनेवाली यह गहरी खाई, थाह पाना है असम्भव जिसका।

अनेकने प्रयास किया और रह गये सर तुड़ाकर। जो पहुँच पाये भीतर, वे रह गये वही, निकलनेको मार्ग न पाया। आइये, हम भी चलें कुछ इसके निकट। प्रवेश न पा सकेंगे तो न सही, बाहर से देखकर ही, सन्तोप पा लेंगे इसे। ठीक है, भीतर जाने पर ही कोई देख सकता है इसके सर्वांग सुन्दर रूप को और पा सकता है इसकी थाह; परन्तु बाहर से देखने पर भी तो कोई कम सुन्दर नही है यह! कोई कम विचित्र नही है यह!

३. जगन्नेत्री माँ श्रद्धा

देखिये, यह रही इस भूल-भुलैया की प्रथम प्रहरी जगजीवन-नेत्री भगवती श्रद्धा। कितनी प्रेमपूर्ण तथा सौम्य है मुद्रा इसकी! ठहरिये, निकट जाने का प्रयत्न न कीजिये अभी। नवजात शिशु-सी दीखती है यह, पर है अत्यन्त वृद्ध, न जाने कितनी। सूक्ष्म-सी दीखती है यह, पर बड़ी शक्तिशाली है। देखने ही योग्य है इसका कौशल। बुद्धि-राज्य के बड़े-बड़े योद्धा पानी भरते हैं इसके सामने, और आखिर हार मानकर बैठ जाते हैं इसके चरणों में, नत-मस्तक। सीधी-सादी-सी दीखती है यह, पर बहुत गहरा है इसका आशय, अत्यन्त गुप्त। भोली-भाली-सी दीखती है यह, पर अच्छे अच्छों को धोखे में डाल देती है यह। नवजात सुकोमल कली की भाँति दीखती है यह, पर याद रखो वज्र से भी अधिक कठोर है यह।

बुद्धि द्वारा उत्पन्न हुई-सी दीखती है यह, पर जन्मजात है यह। क्षुद्र कीट से लेकर मनुष्य पर्यन्त सबके हृदय में वास करती है यह। हृदय की निम्नतम गहराइयों मे छिपी हुई यह इतनी सूक्ष्म है कि खोजने पर भी इसका

पता नही चलता कही। तथापि जीवन की समस्त स्फुरणाओ मे व्यक्त होती हुई यह माँ बन जाती है, महान् से भी महान्। यही है वास्तव मे जीवन-युद्ध की सचालिका। क्या मजाल कि जीवन की बडी से-बडी शक्ति भी कर सके इसकी आज्ञा का किंचित् मात्र उल्लघन। क्या बुद्धि, मन तथा इन्द्रिया और क्या ज्ञान तथा आचरण, सब नाच रहे हैं इसके इशारे पर। सब हैं इसके आधीन। श्रद्धा के अनुसार ही इन्द्रियाँ देखती हैं, मन विचारता है और बुद्धि निर्णय करती है। श्रद्धा मे तनिक सा अन्तर पड जाने पर युगपद सबकी कार्यवाही म अन्तर पड जाता है, नाटक का ड्रापसीन बदल जाता है, युद्ध का पाँसा पल्ट जाता है। जीवन-रथ मे नियोजित अनेक अश्वों को बागडोर इसके हाथ म है। इसीके पथ-प्रदर्शन मे चल रहे हैं सब, इसीका अनुसरण कर रहे ह सब। इस प्रकार क्षीणकाय होते हुए भी इसकी शक्ति अनन्त है।

अथाह है गहनता इसकी। बाहर से भले बदली हुई-सी प्रतीत होती हो, पर भीतर से नही बदलती यह। बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर, अथवा शास्त्र-पठन से तथा उपदेश-श्रवण से, अथवा किसी स्वार्थवश भले ही व्यक्ति अपने बोलने का ढग बदल ले, भले अपना रहन सहन तथा पहन बदल ले, भले अपना खान-पान अथवा रीति-नीति बदल ले, परन्तु भीतर मे वह नही बदलती। हृदय मे बैठी हुई यह उसकी इस दम्भपूर्ण मायावी कृत्रिमता पर हँसती रहती है, जिसे उस समय वह स्वय भी पहचान नही सकता।

अहकार से आवृत्त होकर यही बन जाती है उसकी प्रधान-शक्ति पक्ष पात, और निर्दय राक्षसी की भाति एक ही ग्रास मे हडप जाती है सत्य को। अहकार के आवरण को हटा देने पर यही प्रेममयी माता बनकर जगत् का कल्याण करती है, सत्य का सुन्दर दर्शन कराकर उसका रक्षण तथा पोषण करती है। ओह! कितनी प्यारी है मेरी माँ, यह जगन्नेत्री भगवती श्रद्धा! •

४ दैत्यराज अहकार

अरे अरे यह क्या! कितनी कठोर तथा वक्र है इसकी दृष्टि? डर लगता है इससे। कितना भयानक है इसका रूप! परन्तु कितनी चतुराई से अपने को छिपाने का, कोमल तथा सुन्दर बनाने का प्रयास कर रहा है यह? भले ही ज्ञानीजन न फँस पायें इसके जाल मे, परन्तु प्राय सभी जगत मोहित

कि वह कही इन समस्त भेदो तथा द्वन्द्वो मे अनुगत उस सूक्ष्म सत्य का दर्शन न कर ले। क्योकि भय है इसे इस बात का कि कही ऐसा हो गया तो गजब हो जायगा, उसका सारा शासन नष्ट हो जायगा। सत्य के जागृत होते ही असत्य को मुँह छिपाने के लिए भी कही स्थान नही मिलेगा। •

५ स्वतत्रता में परतत्रता

क्या किया है आपने कभी इस अहकार की विचित्र शासन-पद्धति का निरीक्षण? आइये, तनिक आगे बढ आइये और देखिये कि किस विचित्र इस अनन्त सृष्टि मे जड तथा चेतन सभी पदार्थ किस प्रकार एक दूसरे को अपने आधीन बनाये रखने का प्रयत्न कर रहे हैं।

जड-जगत मे किस प्रकार एक अणु दूसरे अणु को, उसकी इच्छा न होते हुए भी बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है, और दूसरा कोई अणु उसे पीछे धकेलकर स्वय आगे बढने का प्रयत्न कर रहा है। पृथिवी अपने मे आपतित सभी पदार्थों को गलाकर मिट्टी बना देती है और अग्नि सबको जलाकर भस्म कर डालती है।

चेतन-जगत् मे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने अनुकूल चलाने का प्रयत्न कर रहा है—घरेलू क्षेत्र मे, सामाजिक क्षेत्र म, राष्ट्रीय क्षेत्र मे तथा धार्मिक क्षेत्र म भी। घरेलू क्षेत्र मे पिता पुत्र को तथा पुत्र पिता को, सास बहू को, और बहू सास को पत्नी पति को और पति पत्नी को अनुकूल चलाना चाहता है। सामाजिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्र म एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियो पर, एक समाज अन्य समाजो पर और एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रो पर अपना नेतृत्व तथा अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे भी एक सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायो को अपने अनुरूप बनाने की, अपने मे मिलाकर स्वय बडा बन जाने की इच्छा कर रहा है।

अपने-अपने प्रयासो मे सफलता प्राप्त करने की इच्छा से सभी यथा-सम्भव अधिक-से-अधिक बल का प्रयोग किये जा रहे हैं—बौद्धिक बल का और शारीरिक बल का। बौद्धिक क्षेत्र म साम-नीति का प्रयोग करते हुए एक-दूसरे को समझा-बुझाकर अपनी बात मनवाने का प्रयत्न कर रहे हैं और दाम नीति का प्रयोग करके एक दूसरे का शोषण कर रहे हैं। सफलता प्राप्त हुई न देखकर भेद तथा दण्ड-नीति का आश्रय लेते हुए एक-दूसरे को भय दिखा

रहे हैं और मायावी हथकण्डो द्वारा एक-दूसरे के मार्ग मे विघ्न बिछा रहे हैं। इन सब नीतियों के असफल हो जाने पर अन्त मे शारीरिक बल, मन्त्र-बल, आयुध-बल तथा सैन्य बल तक का प्रयोग करने मे भी हिचकिचा नही रहे हैं।

बाह्य-जगत् मे ही नही, आभ्यन्तर-जगत् मे भी एक कषाय दूसरी कषाय को, एक संकल्प दूसरे संकल्प को एक विकल्प दूसरे विकल्प को, समझाकर या धमकाकर अपनी राह पर लाने का प्रयत्न कर रहा है। देखते ही बनता है इनकी पारस्परिक बहस को, तथा उसमे प्रयुक्त वकालत को। कितने प्रकार के तर्क-वितर्क उपस्थित किये जा रहे हैं वे, कि बुद्धि चकरा जाती है, कि-कर्तव्य-विमूढ हो जाती है, सत्य-असत्य का कोई भी ठीक निर्णय कर नही पाती, क्योकि सभी तर्क उस समय तक सत्य-से प्रतीत होते रहते है, जब तक कि उन्हे मानकर उनके दुष्परिणाम का स्वयं साक्षात्कार न कर लिया जाय।

इस प्रकार विवेकहीन-सी वह बेचारी कभी हो जाती है किसी विकल्प के आधीन और कभी किसीके। स्थान-भ्रष्ट-सी वह लुढकती रहती है, इधर से उधर और उधर से इधर, उस समय तक जब तक कि प्रभु-कृपा से उसमें सत्य जागृत नही हो जाता।

बाह्य जगत् और आभ्यन्तर जगत् मे दृष्ट अहकार की इस स्वार्थपूर्ण दुराग्रही प्रवृत्ति मे छिपा हुआ है केवल एक भाव—महत्त्वाकाक्षा, महन्तता, नेतृत्व। गृहस्थ जीवन, सामाजिक जीवन तथा राष्ट्रीय जीवन की ही बात नही, धार्मिक जीवन भी इसके आतक से अस्पृष्ट रहने के लिए समर्थ नही है। "किसी एक महासत्ता के अधीन ही मेरी कोई क्षुद्रातिक्षुद्र अवान्तर सत्ता है"—इस पारमार्थिक सत्य से इनकार कर देने के कारण ही इसने यह इतना बड़ा संघर्ष अपने सिर पर ओढ रखा है। अपनी स्वतत्र सत्ता की जो स्थापना इसके द्वारा कल्पित की है, उसकी रक्षा के लिए ही यह दूसरे को अपने आधीन बनाना चाहता है, परन्तु यह भूल जाता है कि ऐसा करने से वह स्वयं उसके आधीन हुआ जा रहा है। दिन-रात इसी विकल्प में उलझा रहता है कि कैसे मैं उसे अपने अनुकूल बनाऊँ। स्वतत्र होकर अपनी ओर देखने के लिए उसे अवकाश ही कहाँ है? यही है स्वाधीनता में पराधीनता, स्वतंत्रता में परतत्रता। जिसे अहकार अपनी स्वतंत्रता कहता है वही है, हृदय-निष्ठ सत्य की परतंत्रता। •

प्रभु! रक्षा करें मेरी इस दैत्य से, अहंकार के प्रधान सेनापति जगद्विजयी पक्षपात से, जो नित्य जीवन में नया संघर्ष उत्पन्न किये जा रहा है, जिसने जगती को कुरुक्षेत्र की भयंकर युद्ध-स्थली बना दिया है, जिसने सत्ता की स्वतंत्रता को लूटकर उसके अंग अंग में परतंत्रता की बेड़ियाँ पहना दी हैं, जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, एक समाज दूसरे समाज को, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को और एक धर्म दूसरे धर्म को अपने आधीन तथा अनुकूल बना लेने के लिए पूरे बल का प्रयोग कर रहा है—बुद्धि-बल का, धन-बल का, शरीर-बल का, विज्ञान-बल का तथा सैन्य-बल का।

इसने श्रद्धा माँ को बन्दी बनाकर उसकी पवित्रता लूट ली है, उसके सरल तथा मृदु स्वभाव में वक्रता अथवा कठोरता उत्पन्न कर दी है। बुद्धि को हठी बनाकर उसकी निष्पक्ष विचारणा शक्ति हर ली है। देखो! निर्लिप्त आकाश में ऊँची ऊँची उड़ानें भरती हुई, नीचे बिखरी सृष्टि की सुन्दर व्यापकता का दर्शन करनेवाली वह, आज किस प्रकार पक्षपात के अन्धकारपूर्ण तथा दुर्गन्धित बिल में पड़ी सिसक रही है, बिलख रही है। क्यों दया नहीं आ रही हो इस पर? आपकी ही तो सुपुत्री है यह, सती सावित्री।

'मेरी ही बात ठीक है', 'मेरी ही समझ सत्य है', 'मेरा ही धर्म कल्याणकारी है', 'अन्य सबकी बातें, समझ तथा धर्म झूठे हैं, अर्थक्रिया विहीन ही नहीं अनर्थक्रियाकारी हैं', 'नरक की आग में जानेवाले हैं।' घर में माता प्रेम से अपने सुपुत्र को सुधारना चाहती है, पर उसके अन्य पुत्रों को उसका यह व्यवहार पसन्द नहीं है। उनकी धारणा के अनुसार वह कठोर ताड़ना का पात्र है। सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में सभी एक-दूसरे पर टीका टिप्पणी कर रहे हैं 'अमुक नेता या पार्टी की नीति नाशकारी है, यदि कहीं यह सत्ता में आ गयी तो देश का भगवान् ही मालिक है। देखिये मेरी पार्टी की नीति कितनी सुन्दर है।' धार्मिक क्षेत्र में भी इसी प्रकार, 'मेरा धर्म सच्चा तथा निर्दोष है, अन्य सबके धर्म झूठे तथा सदोष हैं, तर्क पर नहीं टिकते।' गरज सभी अपने दही को मीठा और दूसरे के दही को खट्टा सिद्ध करने का प्रयत्न

कोई भी किसीसे सहमत नही। सर्वत्र द्वन्द्व-युद्ध ठना है। और जानते हो युद्धो में सबसे भयकर युद्ध कौन-सा है? आश्चर्य करोगे यह जानकर कि वह है धार्मिक युद्ध, जो शास्त्र-युद्ध से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे शस्त्र-युद्ध का रूप धारण कर लेता है। ओह! कल्याण की दुहाई देनेवाले उन धार्मिक पण्डितो को तथा कल्याण के दूत होने का दावा करनेवाले इन त्यागियो को क्या मालूम कि धार्मिक पक्षपात से आहत यह पृथिवी लहूलुहान हुई किस प्रकार तड़प रही है! इतिहास बता रहा है कि जगत् में जितने युद्ध तथा जितना नरसंहार धर्म के नाम पर हुआ है, उतना अन्य कारणों से नहीं हुआ है।

भ्रम में न पड़िये, यहाँ सत्य-धर्म की बात नही है, क्योंकि सत्य-धर्म मे पक्षपात होता ही नही। वह दूसरो को झूठा नही, सत्य देखना जानता है। वाद-विवाद या शास्त्रार्थ करना नही, प्रेम करना जानता है। भले ही धर्म के नाम पर किये गये हो, पर शास्त्रार्थ अथवा युद्ध वास्तव मे अहंकार-जनित दुष्ट पक्षपात की उपज है, न कि धर्मकी धर्मकी। वाना पहननेवाला पक्षपात कैसे उत्पन्न होता है, कहाँ टिकता है और कैसे नष्ट होता है, यही बात यहाँ विचारणीय है।

अपनी बात का हठ, उसे सर्वोपरि स्थापित करने की भावना तथा दूसरे को अपने अनुकूल बनाने की धारणा प्रत्येक व्यक्ति मे जन्मजात है। पैदा होने पर बच्चे के हृदय मे सामान्य रूप से बैठी रहनेवाली यह दुष्ट भावना शैशव-काल से ही किसी ऐसे पक्ष को अपना विषय बनाना प्रारम्भ कर देती है जो कि वह अपने बाह्य वातावरण से देख-सुन तथा पढ़कर बराबर ग्रहण करता रहता है! उसका कोमल हृदय इस पक्ष के संस्कार से अनुरजित होता हुआ धीरे-धीरे इतना कठोर हो जाता है कि पुनः किसी नये पक्ष को सुनने तथा समझने की योग्यता ही उसमें नही रह जाती।

इस सम्बन्ध मे उसके सर्वप्रथम गुरु होते हैं—उसके माता-पिता। उनके धर्म तथा पक्ष को ही वह अपना लेता है, और उन्हे उस प्रकार करता तथा बोलता देखकर स्वयं भी वैसा ही करने तथा बोलने लगता है। होश सँभाल लेने पर उसी प्रकार की मित्र-मण्डली तथा संगति को वह ग्रहण करता है, क्योकि उससे विपरीत सगति उसे रुचती ही नही। चर्चा, वार्ता आदि के द्वारा विशेषता को प्राप्त कर लेने के कारण वहाँ वह पक्ष और अधिक पुष्ट हो जाता है। इतना ही नही, इससे भी ऊपर उठकर मन्दिर आदि धर्म-स्थानों का तथा साधुओं का, जो उसे उन स्थानो में प्राप्त होते हैं, पल्ला वह इतनी दृढ़ता से

पकड़ लेता है कि किसी प्रकार भी उसे छोड़ने अथवा ढीला करने के लिए तैयार नहीं होता। छोड़ना तो दूर उसकी बात सुनकर ही आगबबूला हो जाता है। उन गुरुओं के द्वारा दिये गये मौखिक उपदेश अथवा शास्त्रों के रूप में प्राप्त लिखित उपदेश तो गजब ही ढा देते हैं। न्याय तथा अन्यायपूर्ण अनेक तर्कों के द्वारा अन्य पक्षों का तिरस्कार अथवा उपहास करते हुए वे उस पक्ष को एक ऐसा वज्रकवच पहना देते हैं कि जिसका भेदन करना असम्भव श्रेणी में चला जाता है।

ओह! कितना भयंकर है यह मीठा शत्रु, जो अमृत के प्याले में विष पिलाये जा रहा है, सत्य के नाम पर असत्य पढ़ाये चला जा रहा है, धर्म के नाम पर द्वेष सिखाये चला जा रहा है। दुष्कर है इसके चंगुल से छुटकारा पाना। ●

७ दैत्य-दुर्ग सम्प्रदाय

व्यक्ति के हृदय में बैठा रहनेवाला यह पक्षपात ही आगे जाकर सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेता है। यद्यपि सम्प्रदाय किसी न किसी महापुरुष के नाम पर उत्पन्न होता है, तथापि वास्तव में वह उस महापुरुष के द्वारा उत्पन्न किया गया नहीं होता। सम्प्रदाय का जो नाम पीछे प्रसिद्ध हो जाता है, सम्भवतः वह महापुरुष उस नाम से परिचित भी न हो। भगवान् बुद्ध कभी बौद्ध नहीं थे, ईसामसीह स्वयं ईसाई नहीं थे और भगवान् महावीर कभी जैन नहीं थे अर्थात् ये शब्द ही उनके जीवनकाल में जन्मे नहीं थे। उनके अनुयायियों ने ही उनके पीछे ये नाम गढ़ लिये।

महापुरुषों के उपदेश सदा मानव-कल्याण की पवित्र भावना से निसृत होते हैं, और सदा पक्षपात तथा द्वेष का निषेध करके समता तथा प्रेम की स्थापना करने के लिए होते हैं। परन्तु अद्भुत है इस पक्षपात की शक्ति जो मुंह से प्रेम की दुहाई देता है और हृदय में द्वेष रखता है।

जिस प्रकार मेघ का मधुर-जल विभिन्न वृक्षों द्वारा ग्रहण कर लिया जाने पर उन उनकी प्रकृति के अनुसार खट्टा-मीठा-कड़ुवा आदि विभिन्न रसों को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार महापुरुषों का यह कल्याणकारी निष्पक्ष उपदेश विभिन्न व्यक्तियों द्वारा ग्रहण कर लिया जाने पर उन उनकी

है मा श्रद्धा को अहकार के कारावास से ? क्या सूय का प्रकाश अथवा शरद् की शीतल वायु भी रखी जा सकती है कही बन्द करके किसी सन्दूक मे, इस आशय से कि आवश्यकता पडने पर इसे खोलकर रात्रि को पा लेंगे प्रकाश, और ज्येष्ठ मास मे शीतल-वायु ? सन्दूक को खुला रखने पर उसमे प्रकाश भी है और शीतल वायु भी, परन्तु बन्द कर देने पर न रह जाता है वहाँ प्रकाश, न शीतल वायु, रह जाता है कोरा अन्धकार तथा घुटन। इसी प्रकार साम्प्रदायिक पक्षपात मे न है सत्य का तेज और न है उसका व्यापक प्रसार है कोरा गर्व, दूसरे को नीचा तथा अपने को बडा समझते रहने की एक भ्रान्ति, दूसरो का तिरस्कार करने की द्वेषपूण सकीणता।

८ सजीव अध्ययन

सत्य के सुन्दर दशन करने हैं तो तोड डालिये सब परिधियो को और उठ जाइये थोडी देर के लिए ऊपर इन सब सकीर्ण घरौंदो से, बैठ जाइये अधर इस असीम आकाश के मध्य मे। भूल जाइये एक क्षण के लिए वह सब कुछ जो पढा, सुना तथा सीखा है अब तक। उतार फेंकिये सब बौद्धिक भार तर्क-वितर्कों का, और होकर हलके देखिये अपने बाहर चारो ओर, दायें-बायें, आगे पीछे, ऊपर-नीचे तथा बाहर-भीतर। बाहर इस चित्र विचित्र जगत् मे और भीतर मन, बुद्धि तथा हृदयकी गहराइयो मे। देखिये, सोचिये और खोजिये। मन से ही प्रश्न कीजिये और उससे ही उत्तर पाइये।

उतर आइये सत्य के इस विशाल तथा सुन्दर भवन मे जहा प्रकृति माँ है सद्गुरु और उसकी यह खुली पुस्तक है सद्शास्त्र। इसमे स्थूल सूक्ष्म विविध चराचर पदार्थ-समूह ही हैं शब्द तथा वाक्य, पढ सकता है जिन्हे हर कोई। यहा न है आवश्यकता सस्कृत हिन्दी अथवा अग्रेजी भाषा के ज्ञान की न है आवश्यकता किन्ही साम्प्रदायिक विधि विधानो की, न है यहा भेद ब्राह्मण-शूद्र का, न ऊँच-नीच का, न धर्मात्मा तथा पापीका, न मनुष्य तथा तिर्यंचका, न है यहा पक्ष विद्वान् तथा मूख का, साक्षर तथा निरक्षर का।

अपनी विशाल गोद मे खेलनेवाले सभी बच्चो को पढा रही है माँ समान रूप से, कितने विचित्र तथा सजीव ढग से, इद्रियो के समक्ष नित्य नये नये कलापूण दृष्टान्त प्रस्तुत कर-करके और उनके द्वारा जीवन मे नित्य नयी-

नयी अनुभूतियां उदित कर-करके, नित्य नयी प्रेरणाएँ तथा स्फुरणाएँ जागृत कर-करके।

आहा हा माँ! कितना मधुर तथा कल्याणकर है तेरा यह सरस तथा सजीव रूप, कितना करुणापूर्ण तथा क्षमाशील है तेरा उदार हृदय! अपने बच्चो के बडे से-बड़े अपराध भी क्षमा कर देती है तू, और बड़े-बड़े दुष्ट तथा पापियों को भी उसी प्रकार गले लगाकर पढ़ाती है तू जिस प्रकार बड़े-बड़े संन्यासियो तथा तपस्वियो को। जीवन मे अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव दरशा-कर उपदेश देती है उन्हे तू विवेक का, और अनेक ठोकरें विघ्न तथा दु:ख दरशाकर माताकी भाँति दण्ड देती है उन्हे तू भूल करने पर। इसी प्रकार क्षमा कर देती है उन्हे तू रोता तथा पछताता देखकर और निर्भय कर देती है उन्हे तू पुनः अपनी प्यारभरी गोद मे उठाकर। समता, महासमता, निष्पक्षता, स्वतंत्रता। आहा हा! सूर्य, चन्द्र, दिवस, रात्रि, वर्षा, वसन्त, गर्मी, सर्दी आदि अपनी सर्व विभूतियो के द्वारा निष्पक्ष भाव से सबका पालन तथा पोषण करती हुई क्या उपदेश नही दे रही है सबको तू ऐसा ही सम निष्पक्ष बनने का, समस्त साम्प्रदायिक बन्धनो से स्वतंत्र रहने का?

ज्योतिष-मण्डल में सुन्दर अप्सराओ की भाँति नृत्य करते हुए, बच्चोकी भाँति कभी परस्परमे लड़ते हुए और कभी टिमटिमाकर आँख-मिचौनी खेलते हुए क्षुद्र रजकणो की भाँति व्योम-सागर के वक्ष पर तैरते हुए अथवा सागर की तरंगों, बुदबुदों तथा भँवरो की भाँति अठखेलियाँ करते हुए, इन असंख्य पृथिवियों के द्वारा और इन असंख्य सूर्यों, चन्द्रों, ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रो तथा तारागणो के द्वारा क्या दिग्दर्शन नही करा रही है तू सत्य के अनुपम सौन्दर्य का अथवा उसकी असीम विशालता तथा व्यापकता का?

प्रचण्ड उल्काओ तथा भयकर तूफानों के द्वारा, सूर्य को भी ग्रस जाने-वाले विशालकाय मेघो तथा सागर की गगनभेदी गर्जनाओं के द्वारा, प्रलयंकर भूकम्पो तथा जलबाढ़ो के द्वारा, बौद्धिक-विज्ञान के गर्व को चूर-चूर कर देने-वाली अतिवृष्टियो तथा अनावृष्टियों के द्वारा, क्या जगत् को परिचय नही दे रही है तू अपनी अतुल शक्ति का?

सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व ही जागकर बिना किसी कामना के सहज अपने-अपने प्राकृतिक कार्यों में जुट जानेवाले, तथा सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व ही अपने-अपने स्थानो को लौटकर श्रान्त हो जानेवाले, इन पशु-पक्षियों के द्वारा क्या उपदेश नही दे रही है तू आचार-शास्त्र का, अर्थात् दिन में प्रेमपूर्वक निष्काम कार्य करने का और रात्रि को विश्राम करने का?

जन्म मृत्यु, सयोग वियोग, वृद्धि-ह्रास, उन्नति अवनति, सुख-दु ख आदि विविध द्वन्द्वो के द्वारा क्या नही दे रही है तू परिचय काल की अकाट्य गति का, तथा उसके आधीन जगत् के नाम रूपात्मक समस्त पदार्थों की क्षण-भगुरता का अथवा उनकी निस्सारता तथा मौलिक असत्यायता का ?

और इसी प्रकार अन्य भी अनेक बातें —मै कौन हूँ, और मेरे चारो ओर यह सब क्या है, इसके साथ मेरा क्या सबध है और मेरे साथ इनका क्या नाता है, ये मुझसे क्या लेते है और मै इनसे क्या लेता हूँ, ये मुझे क्या देते हैं और मै इन्हे क्या देता हूँ ? पारस्परिक आदान-प्रदान के इस प्राकृतिक व्यापार म नित्य होनेवाल हानि लाभ, सुख दु ख और प्रिय अप्रिय के विविध द्वन्द्व क्या हैं और क्यो तथा कैसे उत्पन्न होते हैं ? काम, क्रोध, लोभ आदि दुजय मानव-भक्षी राक्षसो के इस विशाल दल का राजा दैत्यराज अहकार कहाँ बैठा है और किसके वरदान से फला हुआ इतना गरज रहा है ? दया, दान क्षमा, शील सन्तोष सत्य अहिसा आदि रूप पूज्य देवता गणो को परास्त करके उनकी राजधानी अमरावती पर अधिकार जमा लेनेवाल इस दशानन का सहार करके आदश की स्थापना करनेवाले भगवान् राम कौन है तथा कहा बठे हैं ? इन सब बातो के द्वारा क्या शिक्षा नही दे रही है तू सकल दशनशास्त्र की अथवा अध्यात्म की ?

विरोधाभासी द्वन्द्वो से पण यह जगत् और उसकी जटिल तथा नियमित सुन्दर व्यवस्था कहा तथा किसम अवस्थित है ? कौन शक्ति है जो इसका चालन तथा नियत्रण कर रही है ? क्या यह सब कुछ निष्कारण स्वत हो रहा है ? इत्यादि शकाओ का उदय तथा समाधान प्रस्तुत कर करके क्या प्रत्यक्ष नही करा रही तू सद्विचारको को जगत् के तात्त्विक स्वरूप का, इसकी कारण-काय व्यवस्था का आधिदैविक शक्तियो का, पदाथ विज्ञानका और कम-सिद्धान्त का ? इस प्रकार व्यवहार तथा परमाथ-प्रतिपादक आचार-शास्त्र दशनशास्त्र, अधिभूत, अध्यात्म, अधिदेव, वेद-पुराण उपनिषद् आदि सबके रहस्यपूण गम्भीर अथ लिखे हुए हैं प्रकृति मा की इस अनक्षरी खुली पुस्तक मे। पढ़ने के लिए खुली दृष्टि चाहिए, ढँक रखा है जिसको साम्प्रदायिक पक्ष-पाता ने।

२

सृष्टि-विज्ञान

परिचय

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

हे अर्जुन, मेरी महद्ब्रह्म रूप प्रकृति अर्थात् स्पन्दनशक्ति या माया सम्पूर्ण भूतों की योनि है। मैं उस योनि में चैतन्यरूप गर्भ को या वीज को स्थापित करता हूँ, जिससे जड़ अथवा चेतन सभी भूतों की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण भूत जड़ और चेतन रूप मेरी इन दोनों प्रकृतियो से उत्पन्न होते हैं। मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा प्रलय रूप हूँ, अर्थात् इन दोनों प्रकृतियो का मूल कारण हूँ।

सृष्टि-प्रलय के सिद्धान्त का तर्कगम्य तथा विज्ञानमान्य प्रतिपादन करनेवाला यह द्वितीय खण्ड कुछ जटिल है। समझने में सरलता रहे, इस उद्देश्य से पूर्ववर्ती खण्ड की भाँति यहाँ हृदयलोक की भावात्मक भाषा को छोड़कर बुद्धिलोक की साधारण भाषा का प्रयोग किया गया है। पाठकों से सप्रेम अनुरोध है कि इसे केवल पढ़ने के वजाय समझ-समझकर धीरे-धीरे पढें। हो सकता है कि कोई साम्प्रदायिक धारणा इस मार्ग मे विघ्न, पैदा करे। यदि ऐसी प्रतीति आड़े आवे तो कृपया थोड़ी देर के लिए उसकी उपेक्षा कर दें, क्योकि यह सारा कथन वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है शास्त्रीय पद्धति से नही।

मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि ऐसा करने पर आपके चित्त मे इस विषय सम्बन्धी जो अनेक शकाएँ हैं, उनका पूरा नही तो बहुत कुछ समाधान अवश्य हो जायगा। इस विषय को विशदत हृदयगम किये विना अगले तीन खण्ड जो अत्यन्त सरस हैं, समझ मे न आ सकेंगे।

प्रश्न उठ सकता है कि सृष्टि-प्रलय के जटिल सिद्धान्त की चर्चा करने की यहाँ आवश्यकता ही क्या है ? परन्तु आपका ऐसा सोचना उचित नहीं है ? वेद, उपनिषद् तथा पुराण सभी मे इस चर्चा को जो प्रधान स्थान दिया गया है, वह व्यर्थ नही है। इसे समझे विना व्यावहारिक जगत् को सत्य देखनेवाली हमारी जो भ्रान्त धारणा है, उसका शोधन नही हो सकता और उसका शोधन हुए विना जागतिक पदार्थों मे इष्टता अनिष्टता के मानसिक द्वन्द्वो का शान्त होना सभव नही है। जिस प्रकार भी हो, इन मानसिक द्वन्द्वो की शान्ति हमे इष्ट है क्योकि ज्ञानीजनो ने इसे ही जीवन्मुक्ति कहा है, जिसकी साधना के मूल मे सत्यासत्य विवेक अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए वैदिक तथा अवैदिक सभी दर्शनो ने इस दृष्ट-जगत् को असत्य सिद्ध करके इसकी पृष्ठभूमि मे स्थित किन्ही एक या अनेक अदृष्ट तत्त्वो का परिचय दिया है। किसी अन्य प्रयोजन से सही, चार्वाक तथा आधुनिक विज्ञान जैसे भौतिक दर्शन भी इस दृष्ट जगत् को असत्य बताकर इसके कारणभूत किन्ही एक या अनेक तत्त्वो की स्थापना कर रहे हैं। यह जगत् तथा इसके विविध चराचर पदार्थ वास्तव मे अपनी कोई स्वतत्र सत्ता नही रखते, भौतिक परमाणुओ के सश्लेष से उत्पन्न उनके स्थूल काय हैं, और वे परमाणु भी वास्तव मे सत्ताभूत कुछ न होकर किसी एक महासत्ता के स्फुरणमात्र हैं। युक्ति, विज्ञान तथा अनुभव के द्वारा इसे सिद्ध करना ही इस खण्ड का प्रयोजन है। इसलिए इस विषय का सूक्ष्म अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

९ विराट्-दर्शन

आइये, अब इस साम्प्रदायिक पक्षपात की सकीर्ण गलियो से निकल आइये बाहर, उठ जाइये ऊपर आकाश मे और करिये दर्शन इस विशालकाय विश्व के, जिसमे सम्मिलित हैं उभय जगत्—बाह्य जगत् तथा आभ्यन्तर जगत्। पढिये बाह्य जगत् के इस विस्मयकारी अनन्त विस्तार को, जिसमे सम्मिलित हैं कोटि कोटि ब्रह्माण्ड, प्रत्येक मे सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि का अनन्त

विस्तार और इनमे से प्रत्येक भी अपने-अपने वक्ष पर धारण किये हुए अपनी विशाल सृष्टि। निरखिये अंतर्दृष्टि से अपने भीतर आभ्यन्तर जगत् के सूक्ष्म विस्तार को, सम्मिलित हैं जिसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि कुछ चिदाभासी तत्त्व, और इनमें से प्रत्येक भी लिये हुए अपनी गोद मे अपना-अपना अनन्त विस्तार—मन विविध संकल्प-विकल्पों का, चित्त विविध संस्कारो, वासनाओं तथा कषायों का, बुद्धि पूर्वानुभूत स्मृतियो का, और अहकार उन सबमें अनुगत स्वामित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि भावों का।

कितना विराट् है विश्व का यह शरीर, भूलोक हैं जिसके पाँव, अन्तरिक्ष है जिसका उदर, और द्युलोक जिसका मस्तक। सूर्य-चन्द्र हैं जिसकी दो आँखें, दिशाएँ है जिसके कान, शून्य जिसका मुख, गन्ध जिसकी नाक, जल जिसकी जिह्वा, और वायु है जिसकी त्वचा। सर्वभक्षी काल है जिसका जबड़ा, पर्वत-समूह जिसकी अस्थियाँ, नदी-नाले जिसकी नाड़ियाँ और सागर है जिसका उदर। मनुष्यादि है जिसके उदर में बसनेवाले अनन्त कृमि और वृक्षादि हैं जिसके रोम।

कितनी गहनता, गम्भीरता तथा सूक्ष्मता है उसके इस रहस्यमयी स्वरूप मे, बुद्धि है जिसका मस्तक, अहंकार जिसका वक्ष, चित्त जिसका उदर, मन जिसके पाँव और इन्द्रियाँ जिसकी उँगलियाँ। विवेक है जिसका नेत्र, वाणी जिसकी जिह्वा, कर्म जिसका शरीर, विकल्प जिसकी नाड़ियाँ और संकल्प जिसका प्राण।

कितना विराट् है विश्व का यह सचेष्ट शरीर! परन्तु इसे कही अक्षरशः सत्य न समझ बैठना। यह उसका मात्र एक आलंकारिक चित्रण है, जो कि प्रकृति माँ की इस खुली पुस्तक में हमें दिखाई दे रहा है।

अपने-अपने व्यवहार के लिए अनेकानेक उपयोगी वस्तुओं सहित पशु-पक्षी तथा मनुष्यादि अनेक प्राणी जिसमें रहते है, वह एक नगर कहलाता है। अनेक नगर जिसमें रहते हैं, वह एक देश; अनेक देश जिसमे रहते है, वह एक राष्ट्र और अनेक राष्ट्र जिसमें रहते हैं वह एक चेष्टाशील पार्थिव जगत् या दुनिया कहलाता है। पृथिवी सूर्य चन्द्र ग्रह उपग्रह तथा असख्यात तारागण के रूप में ऐसे-ऐसे अनेक सचेष्ट पार्थिव जगत् जिसमे रहते है, वह एक सौर-मण्डल है, और अनेक सौर-मण्डल जिसमें रहते हैं, वह एक ब्रह्माण्ड है। कोटि-कोटि चेष्टाशील ब्रह्माण्ड, जिसके उदर में क्षुद्र रेणुओ की भाँति तैरते फिरते है, वह विश्व कहलाता है, जिसे कि ऊपर एक विराट् शरीर के रूप में चित्रित किया गया है।

सागर के उदर मे एक क्षुद्रातिक्षुद्र कीडे से लेकर नक्र चक्र तथा महा-मच्छो तक छोटे-बडे जलचर प्राणियो की और विविध प्रकार की वनस्पतियो की एक विशाल सृष्टि बसी हुई है। वहाँ रहते हुए वे सब नित्य अपने-अपने योग्य सकल व्यवहार कर रहे हैं। परन्तु उनको यह पता नही कि जिस स्थान मे रहते हुए वे अपना सकल व्यवहार कर रहे हैं, वह सागर नामक किसी सत्ताभूत पदाथ का शरीर है, जो उनके अपने शरीरो की अपेक्षा असम्यात गुण विस्तार से युक्त है।

इसी प्रकार हमारे उदर मे छोटे-बडे कीटाणुओ की एक विशाल सृष्टि बसी हुई है। वहाँ रहते हुए वे सब नित्य अपने-अपने योग्य सकल व्यवहार कर रहे हैं। परन्तु उनको यह पता नही कि जिस स्थान मे रहते हुए वे अपना सकल व्यवहार कर रहे हैं, वह मनुष्य नामक किसी सत्ताभूत पदाथ का शरीर है, जो उनके अपने शरीरो की अपेक्षा असख्यात गुण विस्तार से युक्त है।

इसी प्रकार विश्व के उपर्युक्त विराट् शरीर मे कोटि-कोटि चेष्टाशील ब्रह्माण्डो की विशाल सृष्टि बसी हुई है। यहाँ रहते हुए ये सब नित्य अपने अपने योग्य सकल व्यवहार कर रहे हैं परन्तु इन्हे पता नही कि व्योम-मण्डल नामक जिस स्थान मे रहते हुए वे अपना सकल व्यवहार कर रहे हैं, वह प्रकृति नामक किसी सत्ताभूत पदाथ का शरीर है, जो उनके अपने शरीरो की अपेक्षा अनन्त गुण विस्तार से युक्त है।

'प्रकृति' किसी कल्पना का नाम नही है, वस्तुत यह सत्ताभूत एक अखण्ड विश्वव्यापी पदार्थ है, जिसकी चर्चा आगे किसी पृथक् अध्याय म की जानेवाली है।

●

१० विराट्-गति

पूववर्ती अधिकार म जिसका चित्रण किया गया है, वह केवल उस विराट शरीर का अवस्थित रूप है। चेष्टाशील अथवा गतिशील रूप से देखने पर यह अधिक सजीव, परन्तु जटिल प्रतीत होता है। कितना व्यापक तथा दुस्तर है उसका यह सुन्दर विलास, प्रत्येक अग नाच रहा है उसका मटक-मटककर।

घूम रहे हैं कोटाकोटि ब्रह्माण्ड उसके उदर में। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, ग्रह, नक्षत्र तथा तारे सभी घूम रहे हैं इसमे, क्षुद्र अणुओ की भाँति एक-दूसरे की परिक्रमा करते हुए। पृथ्वी के सिर पर वायु, उसके चरणो में सागर और उसके वक्ष पर चराचर विविध पदार्थ, सभी मंडरा रहे हैं एक दूसरे पर, पुष्पपर मंडराने वाले भ्रमरोकी भाँति। सभी भागे जा रहे हैं एक-दूसरे के पीछे प्रेमी-जन प्रेमिकाओं के पीछे, सूर्य ऊषा के पीछे, नदी सागर के पीछे, तरंगें तरंगों के पीछे।

पर्वतादि स्थावर पदार्थ भी तो स्थिर नही हैं। रेल मे वैठकर यात्रा करने वाले यात्री की भाँति सभी चले जा रहे हैं, गतिशील पृथ्वी पर वैठे। इसी प्रकार सभी ग्रहो तथा उपग्रहो में भी चल रहा है यही नृत्य। इतना ही नही, क्रियाशील इन पृथक्-पृथक् पदार्थों के भीतर भी चल रही है अणु जगत् मे यही भागदौड़। एक क्षुद्र रजकण से लेकर पर्वत पर्यंत सकल भौतिक पदार्थ यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर स्थिर दिखाई देते हैं, तदपि उनके भीतर होने वाले आणविक नृत्य को आज का विज्ञान यंत्रो की सहायता से स्पष्ट दिखा रहा है, जिसका कथन आगे किया जानेवाला है। वाह्य जगत् की भाँति आभ्यंतर जगत् मे भी संकल्प-विकल्पादि सभी नाच रहे हैं और घूम रहे हैं एक दूसरे की परिक्रमा करते हुए। 'मुझे यह काम करना है'—इच्छाकारक संकल्प उदित होते ही तत्संवंधी अनेक विकल्प चारों ओर से घेर कर उसकी परिक्रमा करने लगते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे घनीभूत होकर वह शरीर, वाणी तथा इद्रियों को चचल कर देता है। तव कही वाहर में क्रिया प्रारभ होती दीखती है। यह वात नित्य सवके अनुभव में आ रही है।

यह है बाह्य जगत मे और आभ्यंतर जगत में नित्य चलने वाले उनके क्षेत्रगत क्षोभ का सक्षिप्त-सा चित्रण। अव देखिये उनकी कालकृत गति का कुछ रूप। सूर्य से लेकर अणु पर्यंत ये उपर्युक्त सकल चराचर पदार्थ वदलते जा रहे हैं अपना नाम तथा रूप, अव कुछ और, तथा अगले क्षण कुछ और। एक स्वर्ण का 'कड़ा' यह नाम तथा उसका रूप वदलकर हो जाता है 'कुण्डल' और यह भी वदलकर हो जाता है 'हार'। इसी प्रकार एक ही देवदत्त का 'वालक' यह नाम तथा उसका रूप वदलकर हो जाता है 'युवा' और यह भी वदलकर हो जाता है 'वृद्ध'। पृथ्वी मे दवकर लकड़ी वन जाता है पाषाण और पाषाण वन जाता है 'कोयला'। खानों मे लोहा वन जाता है तांवा और तांवा बन जाता है सोना।

इतना ही नही, और भी सूक्ष्म तथा व्यापक दृष्टि से देखने पर वायु

वन जाता है अग्नि, अग्नि वन जाता है जल और जल वन जाता है पृथ्वी। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु, इन चारो के अश मिलने से वन जाते हैं वनस्पति लोक के वृक्ष, बेल, फल, फूल आदि और ये भी वदलकर हो जाते हैं कीट, पतग आदि क्षुद्र जतु। ये क्षुद्र जतु पुनरपि वदलकर हो जाते हैं पक्षी, पक्षी हो जाता है पशु, और पशु हो जाता है वन्दर, वन्दर वन जाता है वनमानुष और वह वन जाता है मनुष्य। मनुष्यो मे भी जगली मनुष्य वन जाता है सुसस्कृत और वह वन जाता है वैज्ञानिक। वैज्ञानिक हो जाता है आध्यात्मिक और वह हो जाता है भगवान्। इस प्रकार कालगत परिवर्तन से प्रवाह मे प्रत्येक पदार्थ वहा जा रहा है, वरावर अपना नाम रूप वदले जा रहा है। यही है पदार्थों की कालकृत गति।

कहाँ तक गाया जाय इसकी लीलाका मधुर गान। सवत्र मची है भाग-दौड—वाह्य जगत मे भी और आभ्यतर जगतमे भी, वाहर मे भौतिक जगत और भीतर मे आध्यात्मिक अथवा मानसिक जगत। सर्वत्र है क्षोभ, सवत्र है गति। स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों की अथवा भौतिक तथा आध्यात्मिक पदार्थो की भागदौड और इनका एक-दूसरे की परिक्रमा देते हुए नित्य नाचते रहना, यह तो है इस महासागर का क्षेत्रगत क्षोभ, और पुराने नाम रूपको छोडकर प्रतिक्षण नया नया नाम रूप धारण करते रहना, यह है इस महानद की काल-कृत गति।

११ स्पन्द दर्शन

यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर पदार्थों के भीतर नित्य चलनेवाला यह क्षेत्रगत क्षोभ तथा कालकृत गति सत्य प्रतीत होते हैं, तदपि वस्तुत ये असत्य हैं। इनको अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ये सब वास्तव मे पदार्थ के अन्तवर्ती किसी सूक्ष्म स्पन्द के परिणाम मात्र हैं। अन्तवर्ती वह स्पन्द ही घनीभूत होकर क्षोभ तथा गति के रूप मे व्यक्त हो रहा है, विल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि आध घण्टे मे पककर तैयार होनेवाला भात, यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर आध घण्टे मे पका है, तदपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ऐसा नही है। तब मे इस वात की सिद्धि हो सकती है। तनिक विचारिये कि क्या अग्नि पर चढने के उपरान्त चावल आध घण्टे तक सर्वथा अपक्व ये

और आध घण्टा वीतने पर एकदम पक गये ? क्या १५ मिनट वीत जाने पर वे ५० प्रतिशत नहीं पके थे ? यदि ऐसा होता तो आध घण्टे के पश्चात् भी वे पक नहीं पाते, और इसी प्रकार आधे दिन तथा आधे वर्ष के पश्चात् भी वे कच्चे ही रहते। इस प्रकार विचार करने पर आपका विवेक आपको यह वता देगा कि जो चावल आध घण्टे के पश्चात् पककर भात वने हैं, वे वस्तुतः प्रत्येक क्षण पके हैं। प्रतिदिन एक-एक कला को प्राप्त करते हुए पन्द्रह दिन में पूर्ण होने वाले चन्द्रमा की भाँति इन चावलों ने भी प्रतिक्षण पाक की एक-एक कला या अंश को प्राप्त किया है। आध घण्टे में जितने क्षण होते हैं उतनी कलाओं या पाकांशोका समूह ही वास्तव में उन चावलो का पूर्ण पाक है, जो भात के रूप में व्यक्त हुआ है। इसी प्रकार पदार्थों के भीतर नित्य चलते रहने-वाला कोई सहज तथा स्वाभाविक स्पन्द ही घनीभूत होकर उक्त क्षोभ तथा गति के रूप में व्यक्त होता है।

पदार्थों का अतर्वर्ती यह स्पन्द दो प्रकार का है—स्थूल तथा सूक्ष्म। स्थूल स्पन्द तो दृष्टिपथ मे आता है, परन्तु सूक्ष्म स्पन्द इन्द्रियों का विषय नही वन पाता। स्थूल औपाधिक तथा कृतक होता है और सूक्ष्म स्वाभाविक तथा अकृतक। स्थूल कदाचित्क होता है और सूक्ष्म नित्य। अनेक सूक्ष्म स्पन्दों का समूह होने के कारण स्थूल अनेक क्षणवर्ती होता है और अकेला होने के कारण सूक्ष्म एक क्षणवर्ती। स्थूल दृष्ट होता है और सूक्ष्म अदृष्ट। स्थूल पर से उसका अनुमान लगाया जा सकता है, विलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि चावलों के पूर्ण पाक पर से उसके क्षणवर्ती सूक्ष्म पाकांशों का अनुमान किया जाता है। इसलिए सूक्ष्म में प्रवेश करने से पहले यहाँ स्थूल स्पन्द का थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

गतिमान होने के साथ प्रत्येक पदार्थ काँपता भी रहता है। मनुष्य का शरीर चलने के साथ-साथ कॉपता भी रहता है। वृक्ष, उसकी डालियाँ तथा पत्ते आदि इधर-उधर डोलने के साथ-साथ काँपते भी रहते हैं। जलकी तरंगें आगे-आगे दौड़ने के साथ-साथ अपने भीतर ही भीतर काँपती भी रहती हैं। अग्नि की लपट ऊपर की ओर उठने के साथ-साथ धधकती तथा काँपती भी रहती है।

वाह्य गति के साथ ही इस कम्पन की व्याप्ति हो सो वात नही है, गति-विहीन स्थिर तथा अचल पदार्थोंमे भी यह कम्पन अवश्य वना रहता है। स्थिरासन से वैठे हुए अथवा सोते हुए अथवा अचेत भी पड़े हुए मनुष्य की देह के वाहर त्वचा पर तथा भीतर मांसपेशियों में कम्पन की प्रतीति वरावर

अनुभव मे आती रहती है। निर्वात दीपशिखा मे भी अन्तर्तलवर्ती धधवन तथा कम्पन छिपा नही रह सकता। यहाँ तक कि पवत तथा स्तम्भ आदि अचल पदार्थों म भी वह बराबर बना हुआ है, बिलकुल उसी प्रकार कि भूकम्प के समय प्रतीति मे आता है। अन्तवर्ती होने के कारण भले ही दृष्टि का विषय न बन पाये, परन्तु यत्रो की सहायता से उसे देखा जा सकता है।

इस सामान्य स्पदन मे भी जटिलता उत्पन्न हो जाती है, जबकि जल की बडी तरगो मे स्थित छोटी तरगो की भाँति स्पन्द के भीतर स्पन्द देखने का प्रयत्न किया जाता है (देखिये टाइटल पर दिया गया चित्र)। प्रत्येक स्थूल स्पन्द मे सूक्ष्म स्पन्द निहित है, इस सूक्ष्म स्पन्द म पुन सूक्ष्मतर और इस सूक्ष्मतर मे भी पुन सूक्ष्मतम स्पन्द निहित रहता है। यद्यपि स्थूल से सूक्ष्म तक इस स्पन्द के अनेक स्तर हो सकते हैं, तदपि यहाँ प्रयोजनवश पाँच स्तरो का उल्लेख किया जाता है। प्रत्येक ऊपर-ऊपर वाला स्तर अनेकाकार तथा स्थूल है और नीचे-नीचे का एकाकार तथा सूक्ष्म। अन्तिम स्तर पर एक सामान्य स्पन्दन है जो ऊपर वाले सभी स्तरो का मूल-कारण है। जिस प्रकार चावलों का पूर्ण पाक क्षणवर्ती सूक्ष्म पाको से पृथक् कुछ नही है इसी प्रकार ऊपरी स्तरवाले ये चार स्पन्द इस मूल स्तरवर्ती स्पन्द से पृथक् कुछ नही हैं, इसी के रूप हैं। स्तर तथा गति भेद के कारण उनकी तरगें विविध आकार-प्रकार वाली हो गयी हैं, जिसके कारण स्पन्द उत्तरोत्तर जटिल तथा जटिलतर होता चला गया है, घनीभूत होकर स्थूल तथा स्थूलतर होता चला गया है।

सागर की तरगो पर से उसके इस जटिल रूप का कुछ अनुमान किया जा सकता है। देखिये सागर के ऊपरी तल पर अनेक छोटी बडी तरगें हैं। प्रत्येक तरग के शरीर पर लम्बायमान अनेक छोटी तरगें हैं। इस प्रत्येक छोटी तरग की पूरी लम्बाई एक सिरे से दूसरे सिरे तक अनेक क्षुद्र तरगो के द्वारा विभक्त की हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार ऊपर वाली एक ही तरग त्रिगतीय है। इसके नीचे द्विगतीय वाला दूसरा स्तर है, उसके नीचे एक गतीय तृतीय स्तर है और उसके भी नीचे एक सूक्ष्मगतीय चतुर्थ स्तर है।

प्रथम स्तर पर स्थित बडी तरगो की ऊँचाई-निचाई मे बहुत अधिक विषमता होने से वह अनेकाकार है। द्वितीय स्तरवाली मे कुछ कम और तृतीय मे उससे भी कम आकार भेद हैं। चतुर्थ स्तर की तरगें कुछ सूक्ष्म हैं तदपि इनम भी कुछ आकार भेद अवश्य है। परन्तु इन सबकी कारणभूत एक पचम स्तरीय तरग भी है, जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से दृष्टि का विषय नही बन पाती। वह सवत्र समान है। उसम ऊँचाई-निचाई का कोई आकार भेद नहीं

है। इन पाँचों स्तरों के नीचे स्थित है सागर का शान्त जल, जिसके वक्ष पर बसा हुआ है तरंगों का यह विशाल जगत्।

तरंगों के इस जटिल विस्तार का चित्रण टाइटल पृष्ठ पर दिया गया है। वहाँ उसे ध्यानपूर्वक देख लेना चाहिए।

१२. सृष्टि-दर्शन

विचित्र है इस स्पन्द का विस्तार। अपनी स्थूल वहिर्मुखी दृष्टि के कारण यद्यपि अहंकार इन सर्व दृष्ट पदार्थों को ज्यों का त्यों स्वीकार करता है, परन्तु वास्तव में सब स्वय अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नही रखते। वस्तुतः ये सब किसी सत्ताभूत पदार्थ के उत्पन्नध्वंसी कार्य हैं। दार्शनिक तथा वैज्ञानिक जगत् में इस कारण की खोज के लिए विविध अनुसंधान चले हैं और चल रहे हैं, यहाँ तक कि वर्तमान युग का विज्ञान इस तथ्य पर पहुँच चुका है कि जितने कुछ भी ये पदार्थ दृष्टि-पथ में आ रहे हैं, वे मात्र किसी सूक्ष्म स्पन्द के परिणाम हैं। वह स्पन्द ही पंचस्तरीय रूप से उत्तरोत्तर घनीभूत होता हुआ विविध आकार-प्रकारों का रूप धारण कर लेता है।

१. ईथर विज्ञान

आकाश की भाँति निराकार तथा व्यापक 'ईथर' नामक एक अखण्ड तत्त्व विज्ञान का मूल उपादान है। उसकी दृष्टि में इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ सत्ता की वेदी पर स्थित नहीं है। जो कुछ भी दृष्ट है, वह सब उसकी स्फुरणामात्र है। अस्पन्दन-दशा मे वह अव्यक्त रहता है, परन्तु वायु की भाँति स्पन्दित हो जाने पर वह व्यक्त होकर इस अखिल विश्व का कारण बन बैठता है। वह किस प्रकार, यही बात यहाँ प्रतिपाद्य है।

जिस प्रकार वायुके कारण शान्त सागर का साम्य भंग होकर उसमें भँवर तथा तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार इस स्पन्द के कारण 'ईथर' नामक आकाश का साम्य भग होकर उसमे भँवर तथा तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। सागर के जल का कही से दब जाना और कही से ऊपर उठ जाना ही उसके भँवर तथा तरंग हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नही। इसी प्रकार 'ईथर' में तात्त्विक दबाव कहीं घना हो जाता है और कही विरल, यही उसके भँवर तथा

तरग हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नही। जल के दबाव की हीनाधिकता के कारण जिस प्रकार सागर के भँवर या तरग उसके वे शक्ति-केन्द्र हैं, जिनसे वह बडे-बडे जहाजो को उलट सकता है, बडे-बडे पर्वतो को चूर्ण कर सकता है और बडे-बडे भूखण्डो को डुबा सकता है, इसी प्रकार तात्त्विक दबाव की हीनाधिकता के कारण 'ईथर' के ये भँवर तथा तरग उसके वे शक्ति-केन्द्र हैं जिनसे वह बडी बडी सृष्टियो का निर्माण तथा सहार कर सकता है। ये शक्ति-केन्द्र दो प्रकार के होते हैं—आकर्षण शक्तियुक्त और विकर्षण शक्तियुक्त। दबाव के आधिक्यवाला केन्द्र विकर्षण शक्तियुक्त है अर्थात् ऊँची तरग की भाँति अपने निकट आये पदार्थ को दूर फेंक देता है। दबाव की हीनतावाला केन्द्र आकर्षण शक्तियुक्त है, अर्थात् नीची तरग की भाँति अपने निकट आये पदार्थ को खीच कर अपने मे समा लेता है। आकर्षण शक्तियुक्त केन्द्र 'प्रोटोन' कहलाता है और विकर्षण शक्तियुक्त 'अलैक्ट्रोन'। एक प्रोटोन को मध्य मे स्थापित करके अनेक अलैक्ट्रोन उसकी परिक्रमा करते रहते हैं।

२ अणु विज्ञान

प्रोटोन तथा अलैक्ट्रोनो का यह समूह 'एटम' कहा जाता है। इस एक अणु को मध्य मे रखकर इसी प्रकार के अनेक अणु पुन उसी प्रकार इसकी परिक्रमा करने लगते हैं, जिस प्रकार कि एक प्रोटोन की अनेक अलैक्ट्रोन। अणुओं के इस समूह का एक 'मालीक्यूल' कहते हैं। किसी एक मालीक्यूल को मध्य मे स्थापित करके पुन अनेक इसी प्रकार के मालीक्यूल उपर्युक्त प्रकार ही उसकी परिक्रमा करने लगते हैं। मालीक्यूलो के इस समूह को 'मास' कहा जाता है। इस प्रकार परस्पर सयुक्त होकर परिक्रमा करते हुए ये ऐसे शोभित होते हैं, जैसे कि आकाश म सौर-मण्डल (देखिये, टाइटल पृष्ठवाला चित्र)।

सुविधा के लिए इन नामो को हम अपनी भाषा मे परिवर्तित कर लेते हैं। शक्ति के केन्द्र होने से अलैक्ट्रोन तथा प्रोटोन को हम 'शक्त्याणु' कह सकते हैं। इनके समूह स्वरूप एटम को 'गुणाणु' और इनके भी समूह स्वरूप मालीक्यूल को हम 'द्रव्याणु' कहते हैं। ये द्रव्याणु पुन उपर्युक्त प्रकार ही परस्पर गठित होकर जिस स्थूल 'मास' का निर्माण करते हैं, उसे हम अपनी भाषा मे 'स्कन्ध' कहते हैं। किसी गुणाणु म शक्त्याणुओं की सख्या कम होती है और किसी मे अधिक। इसी प्रकार किसी स्कन्ध मे द्रव्याणुओं की सख्या कम होती है और किसी म अधिक। अणुओं की सख्या म तरतमता होने की भाँति ही उनके गति-वेग म भी तरतमता होती है। इस तरतमता के कारण ही उनमे जातिभेद उत्पन्न हो जाता है, जो उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अनन्तता

को स्पर्श करने लगता है। सूक्ष्म होने के कारण तीनों प्रकार के अणु दृष्टिपथ में नहीं आते। स्थूल स्कन्ध ही हमारी इन्द्रियों का विषय बनता है।

व्यवहार-भूमि पर प्रसिद्ध पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु, ये चार भूत इन्हीं स्कन्धों के अन्तर्गत हैं, जिनके अवान्तर भेद अनन्त हो जाते हैं। जैसे कि मिट्टी, पत्थर, कोयला तथा लोहा, सोना आदि सब पार्थिव स्कन्ध हैं। इसी प्रकार अग्नि जल आदि के भी जानना। इस प्रकार जितने कुछ भी चित्र-विचित्र दृष्ट पदार्थ हैं, वे सब अलैक्ट्रोन तथा प्रोटोन नामक द्विविध शाक्ताणुओं के पारस्परिक गठन से प्राप्त कार्य विशेष मात्र हैं, अन्य कुछ नहीं। इसलिए विज्ञान का यह दावा है कि यदि किसी यन्त्र विशेष के द्वारा स्कन्धों में गठित इन शाक्ताणुओं को संख्या तथा गति आदि में हीनाधिकता कर दी जाय तो कोई भी एक स्कन्ध किसी दूसरे स्कन्ध के रूप में परिवर्तित हो सकता है, अर्थात् लोहे को सोना तथा सोने को लोहा बनाया जा सकता है। इसी प्रकार यदि इन शाक्ताणुओं को किन्ही यन्त्रो के द्वारा उस उस अनुपात में गठित किया जा सके तो प्रकृति के द्वारा प्रदत्त लोहा, सोना, हीरा, अन्न, कपास आदि ये सब पदार्थ कारखानों में भी तैयार किये जा सकते हैं।

विज्ञान के द्वारा यद्यपि ऐसा किया जा सकना सम्भव है, तदपि साधन-भूत यन्त्रों का अभाव होने से यह मार्ग व्यवहार में नही आया है, भविष्यत् में यदि लोहे से सोना बनाने वाले किसी यन्त्र का आविष्कार हो भी गया तो भी उसका प्रयोग केवल सन्धान क्षेत्र तक ही सीमित रहेगा, आर्थिक क्षेत्र में उसका उपयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि यन्त्र द्वारा स्वर्ण का निर्माण करने पर जो लागत आयेगी, वह प्राकृतिक स्वर्ण के मूल्य की अपेक्षा कई गुनी अधिक होगी। प्रकृति की शक्ति अनन्त है, वैज्ञानिक साधन उसका स्थान कैसे ले सकते हैं? केवल एक घण्टे में जितना जल प्रकृति मेघों के द्वारा सागर से पृथिवी पर बरसा देती है, उतना जल विज्ञान अनेक दिनों में भी पृथिवी पर ला नही सकता, और यदि कदाचित् कृत्रिम बादलों के द्वारा ला भी दे तो वैसा करनेमें उसे अरबों रुपया खर्च करना पड़ेगा।

खैर, जो हो, हमारा प्रयोजन तो यहाँ केवल यह सिद्ध करना है कि आधुनिक विज्ञान जगत के चित्र-विचित्र सकल पदार्थो को मौलिक रूप से 'ईथर' नामक आकाश के स्वाभाविक स्पन्दन की उपज मानता है। इसके अतिरिक्त स्थूल स्कन्धों की तो बात नही, द्रव्याणुओं तथा शाक्ताणुओ की भी वह स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। यही तथ्य हमारे प्रयोजन का प्राण है।

३ सूर्य विज्ञान

योगियो के जगत में एक 'सूय विज्ञान' भी सुनने में आया है। अनेकानेक उपाधियो से विभूषित कविराज गोपीनाथ ने अपनी कई पुस्तको में इसका उल्लेख किया है। उनके गुरु पूज्य विशुद्धानन्दजी योगी थे, जो उसे जानते थे। एक लैन्स (Lens) की सहायता से सूय की किरणो को अपनी इच्छा के अनुसार विशेष अनुपात में परस्पर गठित करके जब वे किसी पदार्थ पर डालते थे, तो उस पदाथ का रूप बदल कर वैसा बन जाता था, जैसा बनाने के लिए उन्होने यह उपक्रम किया था। परीक्षा के अथ आये हुए विज्ञान के किसी विद्यार्थी को उन्होने रुई का ग्रेफाइट बना कर दिखाया था। उनका कहना था कि उनको यह विज्ञान पूरा नही आता, कुछ मात्र ही रूपो का निर्माण वे कर सकते हैं, सबका नही। उनका यह भी कहना था कि मैं तो उपादान रूप से किसी पदाथ को लेकर उसका रूप बदलता हूँ, परन्तु यदि कोई इस विज्ञान को पूरा पूरा जान पाये तो वह बिना किसी उपादान के केवल सूर्य किरणो के गठन मात्र से इच्छित पदाथ का निर्माण कर सकता है।

इस विज्ञान के अनुसार चित्र विचित्र ये सकल पदाथ केवल सूर्य की किरणो के गठन का परिणाम है। सूय की अनन्त किरणें है, प्रत्येक की प्रकृति तथा शक्ति भिन्न है। उनमें से किन्ही किरणो के गठन से कोई एक पदाथ बनता है और किन्ही दूसरी किरणो के गठन से कोई दूसरा पदाथ। गठन को प्राप्त किरणो की जाति, उनकी सख्या तथा उनके अनुपात में तरतमता होने से ही जगत के पदार्थों में यह वैचित्र्य उत्पन्न हो गया है। भारत का प्राचीन विज्ञान इसकी गवाही देता है कि वेदो तथा उपनिषदो में स्थान स्थान पर 'सविता' नामक सूय को जगत् का सृष्टा कहा गया है।

४ मनोविज्ञान

यौगिक शक्ति के द्वारा मानसिक सृष्टि की उत्पत्ति भी सुनने म आती है। महर्षि विश्वामित्र ने त्रिशकु को सदेह स्वर्ग में स्थित करने के लिए व्योममण्डल में सूय चन्द्र तथा ग्रह उपग्रहो से युक्त एक नये स्वग की रचना कर दी थी। भगवान् ब्रह्मा ने आद्य सृष्टि का निर्माण मन के द्वारा ही किया था। यद्यपि इस विषय मे शब्द प्रमाण के अतिरिक्त विज्ञान का कोई साक्ष्य अभी उपलब्ध नही होता, तदपि इसे गपोडशख मानना युक्त नही है, क्योकि नाथ सम्प्रदाय के गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि योगी योग की बडी-बडी विचित्र शक्तियो से युक्त सुने जाते हैं, जो १००० वष पूव इस पृथिवी पर विद्यमान ऐतिहासिक पुरुष थे। आज भी कुछ योगी ऐसे सुने जाते हैं जो

मनके द्वारा फूल फल आदि किसी छोटी-मोटी वस्तु का निर्माण करने में समर्थ हैं। तथापि इस विषय में यहाँ विज्ञान की सहायता न होने से शब्द प्रमाण तथा श्रद्धा ही शरण है। यदि आप इस पर विश्वास नही करते तो हमारा कोई आग्रह नही है। हमारा प्रयोजन केवल स्पन्द-सिद्धान्त की सिद्धि करना है, जैसा कि अगले प्रकरण से विदित है।

५ समन्वय

सृष्टि विषयक सन्धान के क्षेत्र में भारत सदा अग्रज रहा है। वेद से लेकर दर्शन-शास्त्र तक सर्वत्र इसका उल्लेख उपलब्ध है। इस विषय में यहाँ आठ सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध, ये तीनों अवैदिक दर्शन और वैशेषिक, नैयायिक तथा मीमांसक, ये तीन वैदिक दर्शन परमाणुवादी है। इनमें से भी चार्वाक तथा तीनो वैदिक दर्शन प्रायः समकक्ष है, क्योंकि इन चारों के अनुसार प्रकृति के गर्भ मे चार प्रकार के परमाणुओं की सत्ता विद्यमान है—पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। विविध अनुपातों में इनका पारस्परिक गठन ही विश्वगत सकल भौतिक वैचित्र्य का आरम्भक है। बौद्ध दर्शन भी अनेक प्रकार के परमाणुओं की सत्ता स्वीकार करता है, परन्तु यहाँ इस वैचित्र्य की उत्पत्ति उनके पारस्परिक गठन से न होकर अनके अटूट प्रवाह से होती है, क्योंकि यहाँ परमाणुओं की सत्ता स्थिर न होकर क्षणध्वंसी मानी गयी है।

जैन दर्शन इस विषय मे विज्ञान-मान्य पूर्वोक्त अणुवाद के समकक्ष है, केवल शब्दों का भेद है। यहाँ परमाणु दो प्रकार के माने गये हैं—स्निग्ध तथा रुक्ष। इन दोनों की तुलना हम प्रोटोन तथा अलैक्ट्रोन नामक द्विविध शाक्ताणुओं के साथ कर सकते है, क्योंकि स्निग्धत्व को आकर्षण शक्ति कह सकते हैं और रुक्षत्वको विकर्षण शक्ति। इन द्विविध शाक्ताणुओ के पारस्परिक संश्लेष से ही पार्थिव आदिक चतुर्विध द्रव्याणुओं का उद्भव होता है। विज्ञान की भाँति यहाँ भी इस वैचित्र्य का कारण सश्लेष को प्राप्त शाक्ताणुओं की संख्या तथा उनके भीतर स्थित शक्ति के अंश, इन दो बातों की तरतमता पर निर्भर है। किसी परमाणु में आकर्षण या विकर्षण शक्ति के अंश कम होते हैं और किसी में अधिक।

जैनदर्शन की दौड़ इस क्षेत्र में विज्ञान-मान्य अणुवाद तक ही रही अर्थात् द्विविध शाक्ताणुओं को यह दर्शन सत्ताभूत पदार्थ मानकर चला। शाक्ताणु भी वास्तव में स्वतः सिद्ध न होकर किसी अन्य महासत्ता के कार्य हैं, यहाँ तक इसकी दृष्टि नहीं गयी। इस कमी को सांख्य दर्शन ने पूरा किया। इसके अनुसार ये शाक्ताणु भी वस्तुतः एक अन्य महासत्ता के कार्य हैं, जिसे यह

दर्शन 'प्रकृति' सज्ञा से अभिहित करता है। विज्ञानमान्य 'ईथर' की भाति यह तत्त्व एक अखण्ड तथा सर्वव्यापी पदार्थ है। स्पन्दहीन दशा मे यह अव्यक्त रहता है, परन्तु स्पन्दित हो जाने पर यह व्यक्त होकर इन शाक्ताणुओ का कारण बन बैठता है। तब उसमे से ये शाक्ताणु इस प्रकार स्फुरित होने लगते हैं, जिस प्रकार कि सूर्य से किरणें अथवा अग्नि से चिनगारियाँ। प्रकृति क्या है उसका स्पन्दित या अस्पन्दित होना क्या है, उससे उत्पन्न ये शाक्ताणु क्या हैं और उनके सश्लेष से पार्थिव आदि द्रव्याणुओ का उद्भव कैसे होता है, इस सारे सिद्धान्त का विस्तार यथा स्थान किया जानेवाला है।

स्पन्दवाद (Wave Theory)

यहा इतना ही बताना इष्ट है कि इस अखिल प्रपञ्च की पृष्ठभूमि मे केवल स्पन्द ही तत्त्व रूपेण स्थित है। उस स्पन्द को आप ईथर का कहो या प्रकृति का, एक ही बात है। ईथर के स्पन्द का रूप पहले बताया जा चुका है और प्रकृति के स्पन्द का रूप आगे बताया जानेवाला है। वस्तुत दोनो मे शब्द-भेद के अतिरिक्त अन्य कोई पारमार्थिक भेद नही है। कारण के अनुसार ही कार्य होता है, यह बात न्यायसिद्ध है। जो शक्ति कारण मे होती है, वह उसके कार्य मे होनी स्वाभाविक है, जैसे कि मिट्टी के कार्यभूत घट मे मिट्टी की समस्त शक्तिया विद्यमान हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार स्पन्द से उत्पन्न उसके सकल कार्य भी स्पन्दयुक्त होना स्वाभाविक हैं। इस अधिकार के अनुसार ईथर या प्रकृति के स्पन्द से शाक्ताणु उत्पन्न होते हैं और उन शाक्ताणुओ के पारस्परिक गठन या सश्लेष से रूप रस आदिक वे गुणाणु उत्पन्न होते हैं, जिन्हें कि शास्त्र मे तन्मात्रा कहा गया है। इन गुणाणुओ के सश्लेष से वे द्रव्याणु उत्पन्न होते हैं, जिन्हे पार्थिव आदि चतुर्विध परमाणु कहा जाता है। यह अखिल प्रपञ्च इन भौतिक द्रव्याणुओ के गठन का परिणाम है—यह बात सर्व-सम्मत है। इसलिए शाक्ताणु हो या द्रव्याणु, अथवा इन द्रव्याणुओ के सघात से उत्पन्न सूर्य और सूर्य की किरणो के योग से उद्भूत जगद् वैचित्र्य सब में 'स्पन्द' विद्यमान है, यह बात दर्शाना यहा अत्यन्त आवश्यक है।

यह बात पहले भली भाति समझायी जा चुकी है कि ईथर के स्पन्द से उत्पन्न शक्ति केन्द्र शाक्ताणु हैं, इन शाक्ताणुओ के पारस्परिक परिक्रमणका परिणाम गुणाणु हैं और गुणाणुओ के एवविध गठन का नाम द्रव्याणु है। इस प्रकार ये तीनो ही अणु स्पन्दस्वभावी हैं। सूर्य की किरणें स्पन्द-स्वभावी हैं यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है और इसी प्रकार सकल्प विकल्प आदि के रूप मे मनकी चञ्चलता किसी से छिपी नही है। ये सकल दृष्ट पदार्थ भी यद्यपि बाहर

से स्थिर दिखाई देते है, तदपि भीतर इनमें भी आणविक परिक्रमा के रूप में स्पन्दन निरन्तर चल रहा है, इस विषय में विज्ञान प्रमाण है। द्रव्य ही नहीं, द्रव्य के भीतर प्रतीयमान रूप रस आदि भौतिक गुण, और ताप ज्योति तैजस-गुण जो कुछ भी इन्द्रियो के विषय वन रहे हैं, वे सव स्पन्दन के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, ऐसी विज्ञान की खुली घोषणा है। स्पन्दन के वेग (Frequency) का हीनाधिक्य ही इस वैचित्र्य का हेतु है। वाहर के भौतिक जगत् की भाँति भीतर का आध्यात्मिक जगत भी स्पन्द के अतिरिक्त कुछ नही है। सकल्प-विकल्प, क्रोधादि कषाय तथा इच्छा प्रयत्न आदि तो चञ्चलता अथवा कम्पन रूप स्वयं हैं ही, वौद्धिक ज्ञान भी वास्तव में चिज्ज्योति का उपाधिकृत कम्पन ही है। यदि कदाचित इनके अतिरिक्त और भी इन्द्रियाँ हमारे पास हुई होती तो अवश्य अन्य गुणात्मक संवेदनाएँ भी हमें अवश्य हुई होती। वैज्ञानिक जन तथा योगीजन आज भी इनका प्रत्यक्ष कर रहे हैं।

आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रकार को आशंका को अवकाश नही है है कि द्रव्य के विना रूप रस आदि गुण स्वतन्त्र नहो रह सकते, क्योंकि नित्य ही आप अपने रेडियो तथा टेलीविजन सेटो में अथवा सिनेमा मे विना वक्ता के वाणी और विना द्रव्यों के उनके दृश्य देख रहे हैं। इतना ही नही, उन्नत देशो मे तो वहाँ उन दृश्यो में स्थित पुष्पो की गन्ध का भी प्रत्यक्ष सवेदन होता है। याद रहे कि इन सेटों में अथवा सिनेमा में विद्युततरंग तथा उनके द्वारा उत्पन्न स्पन्द ही है, अन्य कुछ नही।

विद्युत के चमत्कार आज कोई आश्चर्यकारी वात नही हैं। पंखे का योगपाकर यह वायु प्रदान करती है, होटर का योग पाकर ताप, वल्व का योग पाकर प्रकाश और मोटरका योग पाकर क्रियाशक्ति प्रदान करती है। इसी प्रकार लाउड स्पोकर का योग पाकर यह शब्द में परिणत हो जाती है और टेलीविजन की स्क्रीन का योग पाकर वह रूप तथा दृश्यो मे परिणत हो जाती है। विद्युत वास्तव में अलैक्ट्रोन नामक शक्ताणुओ के वेगवान स्पन्द तथा प्रवाह के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, जो तारों मे तो प्रवाहित होता ही है, वे तार के इस गगनमण्डल मे भी फेंका जा सकता है। घरेलू विजली तारो में वहती है और रेडियो टैलीविजन को विजली विना तारों के गगनमण्डल में। इस प्रकार जितने कुछ भी द्रव्य अथवा उनके गुण इन्द्रियों के विषय वन रहे हैं, वे सव किसी न किसी रूप में स्पन्द के परिणाम हैं, अन्य कुछ नही।

इतना ही नही, एक विषय विद्युत के माध्यम से दूसरे विषय के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। माइक्रोफोन के योग से शब्द बिजली के रूप में

और स्पीकर के योग से वह बिजली पुन उसी शब्द के रूप मे परिणत हो जाती है। अलेक्ट्रानिक कैमरे के योग से दृश्य बिजली के रूप मे और टैली विजन की स्क्रीन के योग से वह बिजली पुन उसी दृश्य के रूप मे परिणत हो जाती है। ग्रामोफोन के रेकाड पर शब्द को गहरी लकीरो के रूप मे और सिनेमा की फिल्म पर उसे चित्र के रूप म अंकित किया जाता है। रेकाड की ये लकीरें और फिल्म का वह चित्र पुन साउण्ड बाक्स तथा सिनेमा मशीन के योग से उसी शब्द के रूप मे परिणत कर दिया जाता है। इसी प्रकार रस गन्ध आदि को भी किया जा सकता है। अत अब यहाँ इस विषय मे कोई सन्देह नही रह जाता कि यह सकल दृष्ट प्रपञ्च मात्र स्पन्द का परिणाम है, अन्य कुछ नही।

पूर्ववर्ती अधिकार मे चित्रित पचस्तरीय तरग की भाँति इस स्पन्द को भी स्थूलता तथा सूक्ष्मता की अपेक्षा हम पांच स्तरो मे विभक्त करके देख सकते हैं। सृष्टि के वक्ष पर तैरने वाले इन चित्र-विचित्र पदार्थों के रूप तथा उनकी गति प्रथमस्तरीय स्थूलतम स्पन्द है। इनके भीतर स्थित इनके कारण भूत द्रव्याणुओ के रूप तथा उनकी गति द्वितीयस्तरीय स्थूल स्पन्द हैं। इनके भी भीतर स्थित इनके भी कारणभूत रूप रस आदि गुणाणुओ के रूप तथा उनकी गति तृतीयस्तरीय सूक्ष्म स्पन्द है। इनके भी भीतर कारणभूत अलैक्ट्रोन प्रोटोन नामक द्विविध शक्त्याणुओ के रूप तथा उनकी गति चतुर्थस्तरीय सूक्ष्मतर स्पन्द है। और इनके भी भीतर स्थित इनका भी कारणभूत ईथर का सामान्य पञ्चमस्तरीय सूक्ष्मतम स्पन्द है। इन पाँचो स्पन्दो के नीचे इस समष्टि सागर का वह शान्त तत्त्व स्थित है, जिसके वक्ष पर यह अखिल विस्तार तैर रहा है। विज्ञान मान्य ईथर की भाँति आकाशवत् निराकार होते हुए भी वह उसकी भाँति जड न होकर चेतन है। इसका कथन आगे यथास्थान किया जानेवाला है। •

१३ अशून्य-दर्शन

पृथक्-पृथक् इन स्थूल पदार्थो के भीतर ही नहीं, उनके मध्यवर्ती इस शून्य आकाश म भी सवत्र वह स्पन्दन ठसाठस भरा हुआ है। स्पन्द के इस महासागर मे एक परमाणु मात्र प्रदेश भी ऐसा नही, जहाँ वह स्पन्द विद्यमान

न हो। भले प्रत्यक्ष न हो, परन्तु उसके प्रत्यक्षीभूत कार्यो पर से उसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

जिस प्रकार आकाशवाणी के लाखों केन्द्रों से प्रसारित रेडियो-तरंगें इस व्योममण्डल में सर्वत्र ठसाठस भरी पड़ी हैं, उसी प्रकार जड़ पदार्थों को क्रियाओ से प्रसारित भौतिक तरंगें और चेतन पदार्थों के हृदय से तथा मनो से प्रसारित आध्यात्मिक तरगें इस आकाश में सर्वत्र ठसाठस भरी पड़ी हैं।

विश्व भर के सभी आकाश-वाणी केन्द्रों से प्रसारित विद्युत-तरंगें इस आकाश मे परस्पर घुली-मिली पड़ी होने पर भी आपका रेडियो अथवा टेली-विजन सेट उनमें से उसी तरंग को ग्रहण करता है, जिस पर आप ने अपने इच्छानुसार उन्हें 'ट्यून' किया है। उसके अतिरिक्त अन्य तरंगों को वे छोड़ देते है। इस कारण वे उसी केन्द्र से प्रसारित नाम रूप कर्म को व्यक्त करते हैं, अन्य को नही। इसी प्रकार इस व्योम-मण्डल में सर्वत्र रूप रस आदि विविध स्पन्द घुल-मिलकर पड़े हैं, परन्तु आपकी इन्द्रियाँ उन सबमें से उनका ही ग्रहण करती हैं, जिन पर वे लक्षित की गयी हैं, अन्य का नही।

कौन नही जानता कि इस समष्टि में स्थित सभी जड़-चेतन पदार्थ एक दूसरे से प्रभावित हुए जा रहे हैं। अलैक्ट्रान प्रोटोन से आकर्षित होकर उसके चारों ओर घूम रहा है, चन्द्र पृथिवी के और पृथिवी सूर्य के। इसी प्रकार सभी ग्रह और उपग्रह पारस्परिक आकर्षण विकर्षण शक्तियों के द्वारा एक दूसरे की परिक्रमा करते हुए अपने-अपने स्थान पर टिके हुए हैं, वहाँ से च्युत नही होते हैं। इसी प्रकार चेतन जगत मे भी एक का हृदय दूसरे से प्रभावित हो रहा है। यदि मध्यवर्ती शून्य मे स्पन्दन न हुआ होता तो यह कैसे सम्भव होता ? मध्यवर्ती शून्य में स्थित यह स्पन्द ही वह दृढ़ डोर है, जिससे बँधे हुए वे सब एक दूसरे के अनुसार परिणमन कर रहे हैं।

कौन नही जानता कवियों के द्वारा प्रतिपादित नव रसों का तथा उनसे अनुरञ्जित विविध कलाओं का प्रभाव ? शांत तथा मधुर रसो से अनुरञ्जित काव्यकला, संगीतकला, चित्रकला तथा मूर्तिकला से मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तथा वृक्षादि भी मोहित हो जाते हैं। इन्हे सुनकर अथवा देख कर सभी का मन नाच उठता है, चुम्बक से खिची हुई सुई की भाँति सभी किसी शक्ति से खिचे चले आते हैं, पारस्परिक वैर भूलकर खिचे चले आते हैं, सूखे वृक्ष विना ऋतु फूल उठते हैं, असमय वर्षा होने लगती है, बुझे दीप जग उठते हैं, और रोग, मरी, दुर्भिक्ष जैसे महा-उपद्रव भी शांत हो जाते हैं।

इसी प्रकार शृगार रस के प्रभाव से बड बडे ऋषियो का ब्रह्मचय भग हो जाता है। वीर रस के प्रभाव से कायरो तक की भुजाएँ फडकने लगती ह। रौद्र रस के प्रभाव से बडे-बडे साहसी भय से थर थर काँपने लगते हैं और वैराग्य रस के प्रभाव मे बडे-बडे भोगी तथा विलासी इस ससार को गोखुर के समान निस्सार देखने लगते हैं।

इसी प्रकार हृदय का व्यापक प्रभाव भी देखिये। दूर बैठे भी प्रेमीजना के हृदय इस प्रकार एक हो जाते हैं कि एक के दु खी-सुखी होने पर दूसरा दु खी-सुखी होने लगता है, एक के याद करने मात्र से दूसरा खिचा चला जाता है।

पवित्र हृदयो से निकली तरगें वायुमण्डल को पवित्र कर देती हैं और अपवित्र हृदयों से निकली अपवित्र। साधु सन्तो के अथवा तीर्थ क्षेत्र या मदिर आदि धर्म-स्थानो के प्राप्त होने पर अपवित्र हृदयो मे भी कुछ पवित्रता आ जाती है, और इसी प्रकार विषयी जनो के अथवा मदिरा गृह आदि स्थानो के प्राप्त होने पर पवित्र हृदयो मे भी कुछ अपवित्रता प्रवेश करती प्रतीत होती है।

पवित्र स्थानो मे अपवित्र व्यक्तियो का अधिक गमनागमन हो जाने से उनकी पवित्रता धीरे धीरे लुप्त हो जाती है और इसी प्रकार अपवित्र स्थानो म पवित्र व्यक्तियो के अधिक आवागमन से उनकी अपवित्रता धीरे धीरे पवित्रता में परिवर्तित हो जाती है।

दु खी जनो को देख कर हृदय द्रवित हो जाता है और गुणी जनो को देखकर प्रमोद से भर जाता है। गुरुजन एक दृष्टि मात्र से अथवा हाथ के स्पर्श मात्र से अपने शिष्य के हृदय को ऊपर मोड देते हैं। मध्यवर्ती शून्य यदि सर्वथा शून्य होता तो आप ही बताइये कि एक दूसरे से विलग विभिन्न पदार्थों के भावो का यह पारस्परिक आदान-प्रदान कैसे सम्भव होता? इसलिए मानना पडेगा कि इस शून्य में भी कोई ऐसी अदृष्ट शक्ति विद्यमान है जो पदार्थों के इस पारस्परिक आदान प्रदान की हेतु है। यह शक्ति उस उस पदार्थ से विनिर्गत स्पन्द ही हो सकता है, क्योंकि ऐसा न होने पर क्रियाएँ एक-दूसरे से प्रभावित होकर स्वतन्त्र होतीं। जिस प्रकार एक बडी मशीन के सब पुर्जे पट्टो के द्वारा अथवा गरारियों के द्वारा परस्पर एक-दूसरे से गठित होने के कारण एक-दूसरे के अनुसार ही काय करते हैं, स्वतन्त्र नही, इसी प्रकार मध्यवर्ती स्पन्दनों द्वारा एक-दूसरे के साथ गठित होने के कारण ही ये सब एक-दूसरे के अनुकूल परिणमन करते हैं, निष्कारण नही।

इस दृष्टिसे देखने पर यहाँ वास्तव मे कुछ भी शून्य नही है, अथवा सब कुछ शून्य है। सर्वत्र सर्वदा स्पन्द की विद्यमानता होने के कारण कुछ भी नही है, और स्पन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ भी विद्यमान न होने के कारण सब कुछ शून्य है। विश्वव्यापी यह स्पन्द ही सैद्धान्तिको का वह 'प्रकृति' नामक तत्त्व है, जिसका उल्लेख अगले अधिकार मे किया जानेवाला है। •

१४. नाम रूप कर्म

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर प्रकृति माँ के गर्भ से स्फुरित इस अखिल विस्तार मे हमें नाम, रूप तथा कर्म, इन तीन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी दिखाई नही देता, और तीनों भी स्वरूपतः स्पन्द के ही विविध आकार प्रकार हैं। यथा—'नाम' कहते है शब्द को। तहाँ ॐकार नाद या ध्वनि तो सामान्य शब्द है और अक्षर उसके विशेष हैं। इन अक्षरों के पारस्परिक संयोग से ही वे शब्द बनते है, जिनके द्वारा हम इन वस्तुओं को वाच्य बनाकर भाषा का व्यवहार करते हैं। 'रूप' कहते हैं आकृति को। तहाँ प्रकाश तो सामान्य रूप है और लाल पीला आदि रंग उसके विशेष है। इन काले पीले रंगों की सीधी टेढ़ी लकीरें ही वे रूप है, जिनके द्वारा हम इन वस्तुओं को देखकर पहचानने का व्यवहार करते है। 'कर्म' कहते हैं क्रिया को। तहाँ स्पन्दन तो सामान्य क्रिया है और गमनागमन आदि उसके विशेष है। इन गमनागमन आदि के द्वारा ही हम कुछ करने-धरने का व्यवहार करते है और ये जड़ पदार्थ इधर से उधर दौड़ते अथवा अपना रूप बदलते फिरते हैं। इस प्रकार विश्व का यह अखिल विस्तार इन तीनों में समाप्त हो जाता है। बाह्य जगत में जो कुछ सुनाई देता है, वह सामान्य अथवा विशेष कोई नाम है; जो कुछ दिखाई देता है; वह सामान्य अथवा विशेष कोई रूप है, और इन दोनों में जो कुछ भाग-दौड़ अथवा परिवर्तन होता प्रतीति में आ रहा है, वह सामान्य अथवा विशेष कोई कर्म है। इसी प्रकार आभ्यन्तर जगत् में हम जो कुछ विचारते या जानते हैं, उसका आधार या तो बाह्य जगत् में प्रसिद्ध कोई नाम होता है, या कोई रूप होता है, या इन दोनों की कोई क्रिया या कर्म होता है।

तात्त्विक दृष्टि से देखने पर ये तीनों भी स्पन्द की ही कोई अभि-व्यक्तियाँ है। चलिये, पहले आभ्यन्तर जगत में चल कर देखें, क्योंकि वहाँ इस

स्पन्द का प्रत्यक्ष सबको सहज हो सकता है। 'मन' यह एक सामान्य स्पन्द का नाम है, जो उस समय तक अव्यक्त रहता है जब तक कि बुद्धि तथा चित्त की उपाधि को प्राप्त होकर वह विविध विकल्पों में विभक्त सा नहीं हो जाता। ये उपाधियाँ भी बाहर से आगत कुछ नहीं हैं, प्रत्युत उसी के अंदर का ही कुछ है जो अनादि परम्परा से उसी के द्वारा उसी में उत्पन्न किया गया है और विविध संस्कारों के रूप से उसी में संचित होकर पड़ा है।

मनोगत यह स्पन्द ही योगी जनों की उपास्य वह अदृष्ट ध्वनि या ओंकार नाद है, जो विकल्पों की उपाधि को प्राप्त करके अन्तर्जल्प का रूप धारण कर लेता है, जिसके द्वारा वह भीतर ही भीतर स्वयं अपने से बातें किया करता है। मनोगत यह स्पन्द ही वास्तव में वह प्रकाश है, जिसे आप ज्ञान कहते हैं। ज्ञानात्मक यह सामान्य प्रकाश ही विकल्पों की उपाधि को प्राप्त करके विविध आकृतियां धारण कर लेता है, जिनके माध्यम से वह भीतर ही भीतर स्वयं अपने द्वारा निर्मित रूपों को देखा करता है। मनोगत यह स्पन्द ही वह क्रिया है, जो उन विकल्पों की उपाधि को प्राप्त करके गति या वेग का रूप धारण कर लेती है। इसके द्वारा वह स्वयं विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक बड़ी तेजी से दौड़ता रहता है। यही तीनों हैं भीतरी जगत् के नाम, रूप तथा कर्म।

इसी प्रकार बाह्य जगत् में भी। यद्यपि अत्यन्त परोक्ष होने के कारण इसका समझना कुछ कठिन पड़ता है, परन्तु उपर्युक्त मानसिक जगत् पर से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। मन की भाँति ही यहाँ भी एक सामान्य स्पन्द है, जो उस समय तक अव्यक्त पड़ा रहता है जब तक कि किन्हीं उपाधियों को प्राप्त करके वह विविधताओं में विभक्त-सा नहीं हो जाता। ये उपाधियाँ भी बाहर से आगत कुछ न होकर उसी के अन्दर का कुछ होता है, जो अनादि परम्परा से उसी के द्वारा उसी में उत्पन्न किया गया है और उसीमें विविध संस्कारों के रूप में उसी में संचित होकर पड़ा है। उपमा में हमारे मन के समान होने के कारण बाह्य जगत के इस सामान्य स्पन्द को हम अपनी सरलता के लिए उस विश्व-पुरुष अथवा विराट् पुरुष का मन कह सकते हैं, जिसका दर्शन हम इस खण्ड के प्रारम्भ में कर चुके हैं।

विश्व पुरुष का स्पन्दन रूप यह मन ही वह अश्रुत ध्वनि या ओंकार नाद है, जो मेघ, अग्नि, जल, वायु, वृक्ष तथा कण्ठनालू आदि बाह्य पदार्थों की उपाधि को प्राप्त करके गर्जन, चरचराहट, झंकार तथा भाषा आदि का रूप

धारण कर लेता है। विश्व पुरुष का यह मन ही वह अदृष्ट प्रकाश है, जो संस्कारो की उपर्युक्त उपाधि को प्राप्त होकर स्वतः घनीभूत होता हुआ अलेक्ट्रोन प्रोटोन नामक शक्त्याणुओं का रूप धारण करता है और जिनके संयोग से जगत् के समस्त जड़ तथा चेतन अथवा स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों के विविध 'रूप' उत्पन्न होते हैं। विश्व पुरुष का यह मन ही एक सामान्य क्रिया है, जो इन पदार्थों की उपलब्धि को प्राप्त होकर गति का रूप धारण कर लेती है और सूर्य चन्द्र आदि की भाग-दौड़ के रूप में अभिव्यक्त होती है। ये तीनों हैं बाह्य जगत् के नाम, रूप तथा कर्म।

इसी प्रकार शारीरिक जगत् में भी। प्राणगत स्पन्द ही यहाँ वह सामान्य ध्वनि या ॐकार नाद है, जो अन्दर मे कण्ठ, तालू आदि की और बाहर में वायु की उपाधि को प्राप्त होकर अक्षर, शब्द, वाक्य, सगीत आदि का रूप धारण करता है। प्राणगत स्पन्द ही वह सामान्य प्रकाश है, जो अन्दर मे इंद्रियों की और बाहर में पदार्थों की उपाधि को प्राप्त होकर चित्रभूमि पर अकित ज्ञेयाकारों का रूप धारण करता है। प्राणगत स्पन्द ही वह सामान्य क्रिया है, जो हस्त पाद आदि की उपाधि को प्राप्त होकर गमनागमन आदि का रूप धारण करता है। यही तीनों हैं शारीरिक जगत् के नाम, रूप तथा कर्म।

इस प्रकार क्या नाम, क्या रूप, क्या कर्म, सर्वत्र एक स्पन्द का विस्तार है। गहन है महिमा इसकी। बाह्य की स्थूल दृष्टि इसका स्पर्श कैसे कर सकती है, और बिना इसका स्पर्श किये वह माया रानी के इस दुर्भेद्य आवरण का भेदन करके अपने तात्त्विक स्वरूप के दर्शन कैसे कर सकता है?

१५. प्रकृति माँ

प्रकृति

ग्रन्थ के प्रारम्भ से 'प्रकृति माँ' का उल्लेख चला आ रहा है। प्रायः इसे कवियों की एक कल्पना समझा जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह भारत के प्राचीन विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। इससे पूर्ववर्ती अधिकार में इसकी तुलना विज्ञान-मान्य 'ईथर' के साथ की गयी है। यहाँ इसी तथ्य पर कुछ विचार करना इष्ट है।

साख्य-दर्शन के अनुसार 'प्रकृति' एक सत्ताभूत पदार्थ या तत्त्व है। यह एक है, अखण्ड है तथा आकाश की भांति सर्वव्यापी है। ये सब लक्षण ईथर' तत्त्व में भी स्वीकार किये गये हैं। त्रिगुणात्मकता इसका सर्व प्रधान लक्षण है। यहाँ 'गुण' शब्द से रूप, रस, गंध आदि गुणो का नहीं प्रत्युत सत्त्व, रज, तम नामवाली उन तीन महाशक्तियो का ग्रहण होता है, जो प्रकृति मे स्वभावत विद्यमान रहती हैं। सत्वगुण प्रीति, ज्ञान तथा सुख आदि के रूप मे अनुभव का विषय बनता है, रजोगुण अप्रीति, चचलता तथा दुःख के रूप मे और तमोगुण स्वरूपावरोधी आवरण, अज्ञान, अन्धकार तथा प्रमाद आदि के रूप मे अभिव्यक्त होता है। ये तीनों गुण या शक्तियाँ परस्पर मिलकर ही रहती हैं, पृथक पृथक नही। एक-दूसरे को अभिभूत करके कभी कोई एक गुण प्रधान हो जाता है और कभी कोई दूसरा।

इन तीन गुणो की साम्यावस्था मे किसी भी गुण की शक्ति अनुभूति का विषय नही बनती, इसलिए उस अवस्था मे प्रकृति उसी प्रकार अव्यक्त तथा शान्त रहती है, जिस प्रकार अस्पन्द दशा मे ईथर। परिणमन-स्वभावी होने के कारण प्रकृति मे गुणो का यह साम्य तथा वैषम्य यथाकाल स्वत उदित होता रहता है। व्यक्त होने के कारण गुणो का वैषम्य जगत् की सृष्टि है और अव्यक्त होने के कारण उनका साम्य जगत् की प्रलय है, जिस प्रकार सागर की क्षुब्ध दशा तरगो की सृष्टि है और उसकी शान्त दशा तरगो की प्रलय है। इस प्रकार इनके तीन गुणो का वैषम्य ही वह स्पन्द है, जो कि पूर्ववर्ती अधिकार मे सृष्टि का प्रधान कारण स्थापित किया गया है।

प्रकृति के इन तीन गुणो की तुलना हम ईथर के त्रिविध शक्त्याणुओ के साथ कर सकते हैं। यद्यपि पूर्व प्रकरण मे इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन नामके दो ही शक्त्याणुओ का उल्लेख किया गया है, परन्तु न्यूट्रोन नामवाला एक तृतीय शक्त्याणु भी होता है, जिसका कथन वहाँ विषय के जटिल हो जाने के भय से जान बूझकर छोड दिया था। प्रकरण प्राप्त उक्त तीन गुणो से प्रीति-स्वरूप होने के कारण सत्वगुण की तुलना हम आकर्षण शक्तियुक्त प्रोटोन के साथ कर सकते हैं, अप्रीति तथा चंचलता-स्वरूप होने के कारण रजोगुण की विकर्षण शक्तिवाले इलेक्ट्रोन के साथ और अन्धकार तथा अवरोध-स्वरूप होने के कारण तमोगुण की न्यूट्रोन के साथ। शक्त्याणुओ का एक-दूसरे की परिक्रमा करना ही तीन गुणो का परस्पर मे एक दूसरे को अभिभूत करना है।

इस प्रकार सत्व, रज तथा तम, ये तीनो प्रकृति के वे शक्तिकेन्द्र या 'शाक्ताणु' हैं, जो काल-प्रवाह के साथ उनमें स्वतः स्फुरित होते रहते हैं। सत्वगुण का प्राधान्य होने पर ज्ञान आदि बौद्धिक गुणों का उदय होता है, रजोगुण का प्राधान्य होने पर इच्छा, प्रयत्न आदि अहंकारज गुणों का और तमोगुण का प्राधान्य होने पर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि भौतिक गुणों का। इन भौतिक गुणों को यहाँ तन्मात्र कहा जाता है। इन सभी गुणो को हम शाक्ताणुओ से उत्पन्न 'गुणाणु' कह सकते हैं। रूप रस आदि तन्मात्राओ के पारस्परिक गठन या संश्लेष से पृथिवी, अप्, तेज, वायु तथा आकाश, ये प्रसिद्ध पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं, जिन्हे हम 'द्रव्याणु' कह सकते हैं, क्योकि महाभूत नाम से प्रसिद्ध ये पाँचों वास्तव में स्थूल पृथिवी आदि न होकर उनके कारणभूत 'भूताणु' हैं। इन पंच महाभूतों के अथवा द्रव्याणुओं के पारस्परिक संघात से जो स्थूल पदार्थ व्यवहार के विषय बनते हैं, वे 'स्कन्ध' हैं।

इस प्रकार देखने पर विज्ञान-मान्य 'ईथरवाद' तथा सांख्य-दर्शन-मान्य 'प्रकृतिवाद' में शब्द-भेद के अतिरिक्त अन्य कोई मौलिक भेद प्रतीत नही होता। सृष्टि का मूल कारण जो प्रकृति के तीन गुणों का वैषम्य कहा गया है, वह ईथर के स्वाभाविक स्पन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है, क्योंकि जिस प्रकार स्पन्दित होने पर ईथर में तात्त्विक दबाव की घनता तथा विरलता उदित होती है और यह घनता तथा विरलता ही उसके वे शक्तिकेन्द्र होते हैं, जिन्हें अलैक्ट्रोन प्रोटोन आदि शाक्ताणु कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी पुरुष तत्त्व के ईक्षण से प्रकृति में स्फुरन होना माना गया, जो कि उसके तीन गुणों के वैषम्य का हेतु होता है।

इस प्रकार पूर्ववर्ती अधिकार में जिसकी स्थापना की गयी है, वह स्पन्दवाद (Wave Theory) यहाँ भी अक्षुण्ण है, जिसे वहाँ स्थूलता तथा सूक्ष्मता के पाँच स्तरो में विभक्त करके दर्शाया गया है। शास्त्रो में इन पाँच स्तरों का उल्लेख किसी दूसरे प्रकार से किया गया है। यथा,-सृष्टि के आदि में वह महातत्त्व जो कि अब तक प्रलयकालीन शान्ति में निमग्न था, अकस्मात् स्फुरित होता है। उसके इस आद्य स्फुरण से क्रमशः पंचमहाभूत प्रकट होते हैं—प्रथम आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी। वास्तव में ये पाँच नाम व्यवहार्य पचभूतों के द्योतक नही है, प्रत्युत इनको उदाहरण मानकर किया गया उत्तरोत्तर स्थूल पंचस्पन्दो का संकेत है, अन्यथा सांख्य-मान्य उपर्युक्त सृष्टि-क्रम के साथ इसका समन्वय बैठाना संभव नही हो सकेगा। इस कल्पना के अनुसार हम कह सकते है कि

प्रलयकालीन शान्त तत्त्व अव्यक्त प्रकृति है और सृष्टि के आदि में होनेवाला उसका आद्य स्फुरण उसके तीन गुणो का वैषम्य है, जिसके कारण यह व्यक्त हुई कही जाती है।

इस व्यक्त प्रकृति के सूक्ष्मतम आद्य स्पन्द को ही आकार प्रकार-हीन होने के कारण यहाँ आकाश तत्त्व कहा गया है। आकाश नामक यह प्रथम-स्तरीय स्पन्द ही कुछ स्थूल हो जाने पर वायु कहा गया है। इसी प्रकार वायु नामक यह द्वितीय-स्तरीय स्पन्द कुछ और स्थूल हो जाने पर अग्नि, अग्नि नामक तृतीय स्तरीय स्पन्द कुछ और स्थूल हो जाने पर जल और जल नामक चतुर्थ स्तरीय स्पन्द ही अत्यन्त स्थूल हो जाने पर पचम स्तरीय पृथ्वी तत्त्व कहा गया है। पचस्तरीय तरगो का जो उदाहरण पहले दिया गया है, उसके अनुसार स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने पर पृथ्वी प्रथम स्तरीय अत्यन्त स्थूल स्पन्द है, जल द्वितीय स्तरीय स्थूल स्पन्द है, अग्नि तृतीय-स्तरीय कुछ सूक्ष्म स्पन्द है, वायु चतुर्थ स्तरीय सूक्ष्म स्पन्द है, और आकाश पचम-स्तरीय अति सूक्ष्म स्पन्द है। इसके मूल में स्थित है वह शान्त तथा अव्यक्त तत्त्व, जिसे हम 'प्रकृति' कहते हैं।

१६ माया-रानी

माया

अपार है माँ (प्रकृति) की महिमा! कौन कर सकता है इसका गुण-गान शब्दो मे? कोटाकोटि ब्रह्माण्ड घूम रहे हैं जिसके उदर मे, क्षुद्र रेणुओ की भाति। स्वय सत्ताभूत कुछ न होकर सब इसकी उपज है, इसकी सतान है और इसीलिए कविजन कहते हैं, इसे जगज्जननी माँ। जिस प्रकार सागर की तरगें स्वतत्र सत्ताधारी कुछ न होकर सागर का अपना ही विस्तार हैं, उसी मे से उदित होती हैं, उसी के वक्ष पर स्थित रहती हैं और वायु के शान्त हो जाने पर उसी मे लीन होकर नि शेष हो जाती हैं, उसी प्रकार यह अखिल विश्व स्वतत्र सत्ताधारी कुछ न होकर प्रकृतिरूप इस महासागर का विस्तार है, उसी मे से उदित होता है, उसी के वक्ष पर स्थित रहता है और प्रलयकाल आने पर उसी मे लीन होकर नि शेष हो जाता है। इस प्रकार

इसका विस्तार हो जाना ही सृष्टि है और उसका उसी में लीन हो जाना प्रलय है। किसी अनहुई वस्तु का वन जाना और उसका निरन्वय नाश हो जाना, यह सृष्टि-प्रलय का अर्थ जो प्रायः साधारण जनता में प्रसिद्ध है, वह सिद्धान्त-विरुद्ध है। इस विषय का विस्तार आगे यथास्थान किया जायेगा।

जिस प्रकार इन्द्रजालिया अपने से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को उपादानरूपेण ग्रहण न करके स्वयं अपने भीतर से फल-फूल, वस्त्र-आभूषण आदि इच्छित वस्तुओं को उत्पन्न करके दर्शकों को दिखा देता है और जन-रंजन का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर पुनः उनको छूमंतर कर देता है, इसी प्रकार हे माँ! तू भी अपने से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को उपादानरूपेण ग्रहण न करके स्वयं अपने भीतर से इस चित्र-विचित्र अनन्त विलासको उत्पन्न करके सृष्टिका प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर पुनः उसे छूमंतर कर देती है। जिस प्रकार संस्कार-वश यह मन स्वप्नावथा में अपने से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को उपादानरूपेण ग्रहण न करके स्वयं अपने भीतर से एक विशाल जगत उगल लेता है और संस्कारों का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उसे पुनः निगलकर अपने में समा लेता है, उसी प्रकार संस्कारवश हे माँ! तू भी सृष्टि अवस्था में अपने अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को उपादानरूपेण ग्रहण न करके स्वयं अपने भीतर से इस विशाल जगत को उगल लेती है और संस्कारों का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उसे पुन· निगलकर, अपने में समा लेती है। इसीलिए कविजन तुझे 'माया' कहते हैं और अनहुई वस्तुओं की तथा अनहुई घटनाओं की झलक दिखा-दिखाकर मिटाती रहने के कारण 'अघटन घटना-पटीयसी'।

अखण्ड है तेरा एकछत्र साम्राज्य। कौन कर सकता है इसका उल्ल-घन। सबकी आँखों को अंधा करके तू नाच रही है हमारे सामने। कैसे कर सकते है हम तेरा दर्शन? भ्रान्त कर दिया है सबकी वुद्धि को तूने। 'न कुछ' को कुछ मान रहे हैं हम, 'न कुछ' में अपना सकल व्यवहार कर रहे हैं हम, 'न कुछ' में अहंकार करके परस्पर में लड़-झगड़ रहे है हम, 'न कुछ' में ही आशा-निराशा के विविध जगत वना-वनाकर मिटा रहे है हम, और इनकी वासना से वँधे हुए इस 'न कुछ' में ही अनादि काल से भटक रहे हैं हम। इस 'न कुछ' की अनन्त वासनाओं तथा कामनाओ का भार सिर पर लादकर अपने जीवन को स्वयं अपने हाथों वोझिल वना लिया है हमने। परन्तु मजे की वात यह कि इतना कुछ होते हुए भी हम पहचान नहीं पाते इस 'न कुछ' को और अपनी महान भूल को। चिन्ताओं तथा आपदाओं के सागर में नित्य

डूबें तिरूँ करते हुए भी हम निरलना नही चाहते इससे, नित्य-सतप्त रहते हुए भी अधिक-अधिक प्रवेश किये जा रहे हैं हम इसमे। इससे बडा जादू और क्या हो सकता है?

व्यक्ति दूसरो को बड बडे उपदेश देता है, दूसरो को ससार से पार होने का उपाय बताता है, तेरे इस जादू का सिद्धान्त समझाता है, परन्तु यह नही जान पाता कि वह स्वय ही अपने इस उपदेश का पात्र है और उसका यह उपदश देने का व्यापार भी वास्तव मे तेरे ही राज्य का एक विधान है, जिसके कारण कीर्ति प्रतिष्ठा के हेतु किये गये जनरजना के इस व्यापार को वह परोपकार कहकर स्वय अपनी आँखो मे धूल झोका करता है। इससे बडा जादू और क्या हो सकता है? व्यक्ति के विवेक को ढँक कर तू उसे नाच नचाती है और वह समझ नही पाता कि मैं किसी के इशारो पर नाच रहा हूँ। इससे बडा जादू और क्या हो सकता है?

नमस्कार हो हे माता, तुझे! फँसाती भी तू है और निकालती भी तू ही है। विचित्र है तेरी यह माया। दया कर मुझ शरणागत पर, कृपा कर अपने इस नादान पुत्र पर। हे मा! उठा ले अपना यह आवरण जिससे कि मैं पहचान सकूँ तुझको, तेरी माया को और तेरी इस माया के पीछे छिपे अपने वास्तविक स्वरूप को, अन्तिम तत्व को। •

१७ चिति शक्ति

यद्यपि साख्य दर्शन के अनुसार 'प्रकृति' नामक यह तत्त्व ईश्वर की भाँति स्वतन्त्र पदार्थ है, तथापि वस्तुत यह स्वय कोई पदार्थ न होकर किसी एक सत्ताभूत पदार्थ की शक्ति है, उसका स्वभाव है। स्वभाव, प्रकृति तथा शक्ति, ये तीनो शब्द एकार्थवाची हैं। साख्य दर्शन जिसे 'प्रकृति' कहता है, उसे ही शैव दर्शन 'शक्ति' कहता है। शाक्त दर्शन के अनुसार स्पन्द ही इस शक्ति का स्वरूप है, परन्तु यहाँ यह स्पन्द ईथर के स्पन्द की भाति जड न होकर चेतन है। इसलिए इस शक्ति को वह 'चिति' कहता है। यद्यपि सुनने मे 'स्पन्द' जडात्मक और 'चिति' चेतनात्मक अर्थ के द्योतक प्रतीत होते हैं, तदपि तत्त्वत इन दोनो मे कोई मौलिक अन्तर नही है। चेतना ही वास्तव मे स्पन्द है और स्पन्द ही चेतना है, बिलकुल उसी प्रकार जैसे कि विज्ञान के अनुसार आका-

णुओं का स्पन्द या प्रवाह ही विद्युत, ताप तथा प्रकाश है और ये विद्युत आदि ही शाक्ताणुओं के स्पन्द हैं। स्पन्द के अतिरिक्त विद्युतादि और विद्युतादि के अतिरिक्त स्पन्द उपलब्ध नही होता, इसी प्रकार स्पन्द के अतिरिक्त चेतना और चेतना के अतिरिक्त स्पन्द उपलब्ध नही होता।

यह वात अवश्य ही कुछ अटपटी-सी लगेगी, परन्तु यह एक सत्य है। विज्ञान स्पन्द को प्रधान मानकर जिस प्रकार उसमें से चेतना शक्ति उत्पन्न करता है, उसी प्रकार क्या भारतीय दर्शन चेतना को प्रधान मानकर उसमे से स्पन्द उत्पन्न नही कर सकता? जड़वादी होने के कारण विज्ञान भले ही ज्ञानानन्द स्वरूप चिज्ज्योति को जड़ प्रकाश की भाँति ईथर के जड़ात्मक स्पन्द से उत्पन्न हुआ देखता हो, परन्तु चेतनवादी भारतीय दर्शन इस प्रकार की कल्पना भी करने के लिए समर्थ नही हो सकता। परन्तु इस पर से विज्ञान का तिरस्कार नहीं करना चाहिए, वल्कि सैकड़ों वर्षो से निरन्तर किये गये उसके अथक परिश्रम की स्तुति करनी चाहिए, जिसके फलस्वरूप उसने वे अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व यन्त्रों की सहायता से हमारी हथेली पर रखकर दिखा दिये, जिनको हम आज तक इन्द्रियातीत समझते आये हैं। हमें यह समझते रहना चाहिए कि विज्ञान ने अभी विश्राम नही लिया है, और न ही कोई ऐसी घोषणा की है कि जो उपलब्धि उसको आज तक हुई है वह अन्तिम है। सन्धान के पथ पर वह बरावर आगे वढ़ा जा रहा है, जिससे हमें आशा ही नही, विश्वास है कि जिस प्रकार वह अनेक-पदार्थवाद से एक-पदार्थवाद पर आया है उसी प्रकार जडवाद से चेतनवाद पर भी आ जायेगा।

यहाँ इतना ही देखना इष्ट है कि वैज्ञानिक तथा सैद्धान्तिक, दोनो ही दृष्टियों में जड़ चेतन का कोई पारमार्थिक भेद नही है। जड़वादी होने के कारण विज्ञान के अनुसार जड़ ईथर के सकल कार्य जड़ ही होते हैं, और चेतनवादी होने के कारण सैद्धान्तिक के अनुसार चिति शक्ति के सकल कार्य चेतन ही होते हैं। इस दृष्टि से देखने पर सृष्टि का यह अखिल विस्तार सव कुछ चेतन है, जड़ कुछ भी नही। यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि पाषाणादि को चेतन कैसे कहा जा सकता है? परन्तु तत्त्वालोक में प्रवेश पा जाने पर इस शंका के लिए भी कोई स्थान नही रह जाता। पाषाणादि मे प्रतीत होनेवाला जड़त्व वास्तव मे हमारी स्थूल दृष्टि का परिणाम है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उसके भीतर चलने वाली आणविक चेष्टा उनके चेतनत्व को सिद्ध कर रही है। पुनः प्रश्न हो सकता है कि ज्ञानयुक्त न होने से वह चेष्टा जड़ है, परन्तु इस

धका मे भी हमारी स्थूल दृष्टि ही हेतु है। ज्ञान की साक्षात् प्रतीति न होने से यह सिद्ध नही हो जाता कि उनमे ज्ञान नही है। जिस प्रकार तमोगुण का प्राबल्य हो जाने के कारण वनस्पति लोक मे ज्ञान की प्रतीति अत्यन्त क्षीण है, उसी प्रकार तमोगुण का प्राबल्य और आधिक्य हो जाने के कारण पार्षाणादि मे उसकी प्रतीति इतनी क्षीण हो गयी है कि वह किसी प्रकार भी हमारी पकड मे नही आ पाती। इसी बात को हम सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत करते हैं।

चिति शक्ति का स्पन्द ज्ञान तथा क्रिया, इन दो रूपो मे अभिव्यक्त होता है और इन दोनो की स्फुरणाएं ही पदार्थों में दृष्ट ज्ञान तथा क्रिया की विविध प्रतीतियाँ हैं। किन्ही पदार्थों में चेतना की वह स्फुरणा अपना परिचय हीनाधिक ज्ञान के रूप में देती है और किन्ही में हीनाधिक क्रिया के रूप में। जिन पदार्थों में ये दोनो प्रकार की चेतनाएँ दृष्ट नही हैं, वहा भी वे प्रसुप्त दशा में अवश्य पडी हुई हैं। इसलिए पदार्थगत जड चेतन का भेद भ्रान्ति मात्र है, जो कि अहंकार की उत्तरोत्तर अधिक सकीर्णता के कारण, या चेतना की अभिव्यक्तियो में तरतमता हो जाने के कारण उत्पन्न हो गया है—ज्ञानात्मक चेतना की अभिव्यक्तियो में भी और क्रियात्मक चेतना की अभिव्यक्तियो में भी।

ज्ञानी मनुष्यो की अपेक्षा अज्ञानी मनुष्यो में, उनकी अपेक्षा पशु-पक्षियो में, उनकी अपेक्षा कीट-पतगादिको में, उनकी अपेक्षा वनस्पतियो में और उनकी भी अपेक्षा पार्थिव तथा पर्वतीय खानो में ज्ञान की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर हीन होती गयी है, इसलिए उत्तर उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व में चेतना की और पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर में जडता की प्रतीति होती है। ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी मनुष्य जड है और उसकी भी अपेक्षा पशु पक्षी। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

मनुष्य से लेकर वृक्षादि पर्यन्त तो ज्ञान की प्रतीति सब प्रत्यक्ष है, खानो में भी शरीर-वृद्धि के रूप में उसकी धुँधली-सी प्रतीति होती है, परन्तु पाषाणादिको में आकर वह इतनी प्रसुप्त हो गयी है कि किसी प्रकार भी वहाँ इसकी प्रतीति नही हो रही है। प्रतीति न होने के कारण भले उन्हें जड कह लें, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से देखने पर तो वे भी चेतन हैं ही। जिस प्रकार ज्ञान के अति क्षीण होने पर भी वनस्पति को हम जड न मानकर चेतन मानते हैं, उसी प्रकार ज्ञान शक्ति के और अधिक क्षीण हो जाने पर हम पाषाणादि को भी चेतन क्यो नही मान सकते ? उनमें भी ज्ञान की अतिक्षीण सत्ता अवश्य है, जो दृष्टि की स्थूलता के कारण हमारी प्रतीति का विषय नहीं बन

पाती। आगे चलकर यह भी बताया जायेगा कि अत्यन्त जड़ समझा जाने वाला परमाणु तथा पाषाण ही उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ मनुष्य बन जाता है। इसलिए इनमें अभिव्यक्ति का ही भेद है, शक्ति का नहीं।

वास्तव में स्पन्द ही चित्-शक्ति का स्वरूप है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तो मात्र उसका एक घनीभूत रूप है। उसका लक्षण ज्ञान मान लेने पर अवश्य ही जड़-चेतन का यह भेद सत्य हो जाता है, परन्तु उसका लक्षण स्पन्द मान लेने पर यह भेद असत्य हो जाता है।

ज्ञान-विकास के क्रम मे भूमिकाओं के अनुसार चित् या चेतना का लक्षण उत्तरोत्तर बदलता हुआ व्यापक होता जाता है। पहले-पहलेवाले लक्षण आगे-आगे वालो मे डूबकर असत्य बनते जाते है। जो बौद्धिक ज्ञान पहले चेतन प्रतीत होता है, वही आगे जाकर जड भासित होने लगता है, और जो क्रिया पहले जड प्रतीत होती है, वही आगे जाकर चेतन लगने लगती है। अन्तिम भूमिका पर जाकर केवल स्पन्द ही चेतना का लक्षण बन जाता है, और वही है सत्य तत्त्व की अन्तिम परमाशक्ति, महामाता, समस्त सृष्टि है जिसकी सन्तान। उसकी स्फुरणा ही है पदार्थगत क्षुद्र चेतनाएँ।

यहाँ इस शका को भी कोई अवकाश नही है कि चेतना शक्ति से जड़ स्पन्द और जड़ स्पन्द से चेतना शक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है। क्योकि भले ही स्थूल दृष्टि से देखने पर चेतना मे तथा जड़त्व मे विजातीयता की प्रतीति होती हो, परन्तु परमार्थ भूमि पर ऐसा कोई भेद नही है। विज्ञान के अनुसार यह भेद स्पन्द के वेग (Frequency) में तरतमता होने से होता है। जिस प्रकार तारवाली विजली की अपेक्षा वेतारवाली विजली के स्पन्द का वेग लाखो गुना अधिक होता है, अथवा जिस प्रकार सामान्य प्रकाश मे प्राप्त शाक्ताणुओं के प्रवाह की अपेक्षा X-ray वाले अदृष्ट प्रकाश में शाक्ताणुओं के प्रवाह का वेग लाखो गुना अधिक होता है, उसी प्रकार उस अदृष्ट प्रकाश की अपेक्षा भी ज्ञानात्मक चेतन प्रकाश में शाक्ताणुओं के प्रवाह का वेग असंख्यात गुना अधिक होता है।

भारतीय सिद्धान्त के अनुसार यह भेद गुण-वैषम्य के कारण प्रतीत होता है। मनुष्यादि चेतन पदार्थों में सत्त्वगुण का और पाषाणादि जड पदार्थों मे तमोगुण का प्राबल्य होता है। भले ही कितना भी हीन क्यो न हो, चेतन पदार्थों मे तमोगुण और जड़ पदार्थों में सत्त्वगुण अवश्य होता है, क्योकि जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये तीनो गुण परस्पर विलग न रह कर अंशतः

मिलकर ही रहते हैं। आत्मानुभवी मनुष्य की अपेक्षा साधारण मनुष्य तमाच्छन्न है और इसकी अपेक्षा भी जङ्गली मनुष्य तथा पशु पक्षी आदि। इसीलिए उनमे उत्तरोत्तर जडत्व की प्रतीति होती है। इसी प्रकार लोहे की अपेक्षा स्वर्ण मे और स्वर्ण की अपेक्षा भी अग्नि मे सत्त्व अधिक होता है, जिसके कारण वे उत्तरोत्तर अधिक तेज तथा प्रकाशयुक्त दिखाई देते हैं।

इस प्रकार देखने पर चेतनत्व तथा जडत्व का यह अखिल बाह्याभ्यन्तर वैचित्र्य प्रकृति के गुणो मे डूबकर अस्ताचलको चला जाता है। सांख्य दर्शन ने प्रकृति को जड़ा कहा है, परन्तु वास्तव मे यह चिति शक्ति है। इसे कहने का क्या प्रयोजन है, यह बात आगे यथास्थान स्पष्ट कर दी जायेगी।

१८ परम पिता

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 'प्रकृति' नामक यह तत्त्व वास्तव मे स्वतन्त्र सत्ताधारी कुछ न होकर सत्ताधारी किसी महातत्त्व की शक्ति है, जिसे शाक्त दर्शन 'स्पन्द' कहता है और शैव दर्शन 'चिति'। स्पन्द और चेतना दोनो एक हैं, यह बात भी स्पष्ट की जा चुकी है। अब उस महातत्त्व के विषय मे कुछ विचार करना आवश्यक है जिसकी कि यह 'प्रकृति' शक्ति है। जिस प्रकार सागर के बिना तरगें सम्भव नही उसी प्रकार शक्तिमान के बिना शक्ति सम्भव नही। बिना किसी आधार के अकेली शक्ति कहाँ तथा कैसे अपने स्वरूप को प्राप्त करके स्थिर रह सकती है? अत जिस प्रकार तरगों म अनुगत जल ही सत्य है, उससे विहीन केवल तरग नही, इसी प्रकार प्रकृति के स्पन्द मे अनुगत वह तत्त्व ही सत्य है, तद्विहीन केवल प्रकृति या चिति शक्ति नही। जिस प्रकार तरगें जल म तथा जल पर ही अपनी सत्ता रखती प्रतीत होती हैं, उससे पृथक् नहीं, उसी प्रकार प्रकृति नामक यह 'चिति' भी उस तत्त्व मे तथा उस तत्त्व पर ही अपनी सत्ता रखती प्रतीत होती है, उससे पृथक् नहीं। अन्तर्निहित होने के कारण भले ही वह तत्त्व दृष्टिपथ म न आ सके, परन्तु तरग स्थानीय इस सृष्टि पर से उसकी सत्ताका अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य का होना सम्भव नही। प्रकृति को हम इसका कारण नही कह सकते, क्योंकि तत्त्व की शक्ति होने के

कारण वह स्वतन्त्र नहीं है। इसलिए वह तत्त्व ही इस सृष्टि का अन्तिम कारण सिद्ध होता है।

जिस प्रकार सागर का ऊपरी तल ही तरंगित हुआ है, उसके नीचे असीम सागर शान्त तथा स्थिर पड़ा है; उसी प्रकार इस तत्त्व का केवल ऊपरी तल ही तरंगित होकर सृष्टिरूप हुआ है, उसके नीचे असीम तत्त्व शान्त तथा स्थिर पड़ा है।

जिस प्रकार तरंगें सागर के ऊपरी तलपर ही तैर रही है, उसके भीतर प्रवेश नहीं कर पाती, उसी प्रकार यह सृष्टि भी उस तत्त्व के ऊपरी तल पर ही तैर रही है, उसके भीतर प्रवेश नहीं कर पाती।

जिस प्रकार सागर का एक तुच्छ अंश मात्र ही तरंगित हो पाया है, उसके नीचे स्थित शेष भाग ज्यों का त्यों है; उसी प्रकार उस तत्त्व का एक तुच्छ मात्र अंश ही सृष्टिरूप हो पाया है, नीचे स्थित उसका शेष भाग ज्यों का त्यों है।

जिस प्रकार ऊपरी तल पर स्थित तरंगें ही परस्पर में एक दूसरे से पृथक् अपनी-अपनी सत्ताएँ रखती प्रतीत होती हैं, परन्तु मूल मे जाने पर वास्तव मे जल ही है अन्य कुछ नहीं; उसी प्रकार ऊपरी तल पर स्थित सृष्टि के विविध पदार्थ ही परस्पर में एक दूसरे से पृथक् अपनी स्वतंत्र सत्ताएँ रखते प्रतीत होते हैं, परन्तु मूल मे जाने पर एक तत्त्व ही है अन्य कुछ नहीं।

जिस प्रकार तरंगित होकर भी जल जल ही है, अन्य कुछ नहीं, उसी प्रकार सृष्टिरूप होकर भी तत्त्व तत्त्व ही है, अन्य कुछ नहीं। यह तत्त्व है सृष्टि का उपादान और यह सृष्टि इसकी एक क्षुद्र स्फुरणा है, इसके विविध आकार-प्रकार वाले स्पन्द हैं इसके विविध नाम, रूप तथा कर्म।

जिस प्रकार एक अखण्ड सागर में सागर तथा तरंग का कोई मौलिक भेद नहीं है, इसी प्रकार हमारे इस महातत्त्व में भी अंश-अंशी का अथवा शक्ति-शक्तिमान का कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार जल रूप से देखने पर सागर मे ऊपर-नीचे का अथवा बाहर-भीतर का कोई भेद नहीं है, इसी प्रकार अखण्ड तत्त्व में भेद की कल्पनाएँ उपचार मात्र हैं। तत्त्व रूप से देखने पर उसमें न है भेद शक्ति-शक्तिमान का, न कारण-कार्य का, न निमित्त-उपादान का, न जड़-चेतन का, न ऊपर-नीचे का, और न बाहर-भीतर का। वह पूर्ण है और अन्तिम सत्य है, जिसके आगे कुछ नहीं।

के पश्चात् वह कहीं रह जाती है। घट के सद्भाव में अवश्य प्रतीतिका विषय बन रही थी, परन्तु क्या यह प्रतीति यथार्थ थी? उपाधिकृत भ्रान्ति ही तो थी, उसके अतिरिक्त और क्या? उपाधि गयी तो वह भी गयी।

यह दृष्टान्त है। अब दार्ष्टान्त को समझिये। भूताकाश जैसे किसी एक अन्य आकाश की कल्पना कीजिये, जो उसी की भांति शून्य एक तथा विभु तो है, परन्तु जड न होकर चेतन है। चेतन होने के कारण मैं उसे 'चिदाकाश' संज्ञा प्रदान करता हूँ। जिस प्रकार भूताकाश इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं, पदार्थों के अवगाह पर से अथवा शब्द स्पन्द पर से उसका अनुमान होता है, उसी प्रकार यह चिदाकाश भी प्रत्यक्ष न होकर अनुमेय है। किसी प्रत्यक्ष लिंग पर से परोक्ष लिंगी की प्रतीति करना अनुमान कहलाता है। आओ, किसी ऐसे प्रत्यक्ष लिंग का अन्वेषण करें, जिस पर से इसका अनुमान कर सकें।

जिस प्रकार घट में झांककर उसके भीतर आपने एक जड शून्य की प्रत्यक्ष प्रतीति की थी, उसी प्रकार तनिक अपने भीतर भी झांककर देखें। इन सकल मानसिक सङ्कल्पों के पीछे अर्थात् इनका अभाव हो जाने पर क्या दिखाई देता है? ध्यान तथा समाधि द्वारा अपनी चित्त-वृत्तियों का निरोध कर लेनेवाले योगी जनों को वहाँ एक चेतन शून्य की प्रतीति होती है। आप को भी होती तो अवश्य है, परन्तु आपने कभी उस पर ध्यान नहीं दिया। जब कभी आप किसी एक व्यक्ति को देखते होते हैं अथवा उसकी बात सुनते होते हैं, उस समय यदि आप उस देखने तथा सुनने को छोडकर किसी दूसरे पदार्थ की ओर उन्मुख होते हैं, तो उस समय आप की चित्त-वृत्ति किमाकार होती है? पहले विषय को छोड चुकी है, दूसरे को अभी तक पकड नहीं पायी है। इसे हम निर्विषय अथवा शून्य न कहें तो क्या कहें? अत्यन्त क्षुद्र होने के कारण यह क्षण साधारणतः प्रतीति का विषय नहीं बन पाता, परन्तु तनिक ध्यान देने पर उसका मानस प्रत्यक्ष हो जाता है। बस, हमारे भीतर प्रतीत होनेवाला यह शून्य ही हमारा इष्ट वह लिंग है, जिस पर से हमें उस कल्पित चिदाकाश का अनुमान करना है। घट-स्थानीय चित्तकी उपाधि से युक्त होने के कारण यह शून्य 'चित्ताकाश' कहा जाता है, जो घटाकाश की भांति अनेक तथा अविभु तो अवश्य है, परन्तु जड न होकर चेतन है। अस्मद् युष्मद् आदि के जितने चित्त, उतने ही चित्ताकाश, जितने हीन या अधिक विषय का ग्रहण करने की योग्यतावाला चित्त, उतना ही बडा चित्ताकाश।

परन्तु विचारिये तो सही कि यह चित्ताकाश और इसका अनेकत्व तथा अविभुत्व वास्तविक है या अवास्तविक? चित्तोपाधि के अतिरिक्त वह है

क्या ? लीजिये, अब शास्त्रोक्त विधि से चित्त का अर्थात् संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियों की उपादानभूत भीतरी शक्ति का आत्यन्तिक निरोध अथवा नाश करके देखिये। कल्पना कीजिये कि आप मुक्त हो गये हैं। कहाँ गया अब आपके भीतर प्रतीत होनेवाला चित्ताकाश तथा उसका अविभुत्व ? इसी प्रकार सभी व्यक्तियों को मुक्त करके देखिये, कहाँ गया उसका अनेकत्व ? चिदाकाश और उसके परिमाण की भाँति ये कोई सत्ताभूत पदार्थ तो थे नही, जो कि चित्त-नाश के पश्चात् भी टिके रह जाते। चित्ताकाश चिदाकाश मे, उसका अनेकत्व उसके एकत्व मे और उसका अविभुत्व उसके विभुत्व मे समाकर निःशेष हो गये। न चित्तोत्पत्ति से पहले कही उनकी सत्ता थी और न चित्त-नाश के पश्चात् वह कही रह जाती है। चित्त के सद्भाव मे अवश्य प्रतीति का विषय बन रही थी, परन्तु क्या यह प्रतीति यथार्थ थी ? उपाधिकृत भ्रान्ति ही तो थी; उसके अतिरिक्त और क्या ? उपाधि गयी तो वह भी गयी।

इस प्रकार 'चित्ताकाश' चिदाकाश से पृथक् स्वतन्त्र वस्तु नही है, प्रत्युत उसी का अधिकृत एक छोटा-सा अश है, जो प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् रहने से अनन्त है। मनोगत सृष्टि से युक्त कर देने पर यही 'चित्त' शब्द का वाच्य होता है और उससे वियुक्त कर देने पर यही 'जीवात्मा' कहलाता है। अथवा यों कह लीजिये कि विकल्पों से युक्त स्पंदित चित्ताकाश 'चित्त' है, और विकल्प-विहीन कूटस्थ चित्ताकाश 'जीवात्मा' है। आत्मा शब्द का अर्थ है वस्तु का निजत्व (Self), उसका निज-तत्त्व, उसका हृदय, उसका अन्तिम सार। इस शरीर का अन्तिम सार होने से यह 'आत्मा' कहलाता है और प्राणो के द्वारा जीवित रहने से 'जीव'।

दूसरी ओर 'चिदाकाश' इन अनन्तों चित्ताकाशों को अपने गर्भ में रखनेवाला हमारा वही महातत्त्व है, जिसमें से यह अखिल सृष्टि स्फुरित हो रही है। प्रत्येक जड़ अथवा चेतन पदार्थ के मध्य यही जीवात्मा के रूप में प्रविष्ट हुआ अपनी एक तथा अखण्ड सत्ता का परिचय दे रहा है, जिसे तृतीय नेत्रधारी ज्ञानीजन ही देखने के लिए समर्थ है, माया से आवृत्त साधारण जन नही। सकल जीवात्माओं का भी आत्मा होने से यह 'परमात्मा' कहा जाता है। विश्वगत सृष्टि से युक्त कर देने पर यह चिदाकाश ही 'ईश्वर' शब्द का वाच्य हो जाता है और उससे वियुक्त कर देने पर 'परमात्मा' कहलाता है। अथवा यों कह लीजिये कि वैकल्पिक स्पन्द से युक्त चिदाकाश 'ईश्वर' है और इससे वियुक्त कूटस्थ चिदाकाश 'परमात्मा' है। एक अखण्ड तत्त्व में उत्पन्न

किये गये ये सकल विकल्प वास्तव में तत्त्व की महिमा का ही गान करते हैं, उसमें भेद या द्वैत उत्पन्न नही करते।

पूव सचित सस्कारो की वासना के कारण ही चित्ताकाश क रूप में जीवात्मा की सत्ता प्रतीत होती है। वासना का नाश हो जाने पर वह उसी प्रकार चिदाकाश में लीन हो जाती है, जिस प्रकार कि घट भग्न हो जाने पर घटाकाश भूताकाश में लीन हो जाता है और यही उसकी 'मुक्ति' कहलाती है। मुक्त हो जाने के पश्चात् भी जो ऊपर के किसी लोक में बैठाकर उसे जीवित रखना चाहते हैं, उनकी दृष्टि वास्तव में 'अह् प्रत्यय' की प्रतीति से ऊपर उठ कर विश्वव्यापी चित्ततत्त्व का स्पश अभी नही कर पायी है ऐसा समझना चाहिए।

२० ईश्वर

सृष्टि कतृत्व

इतना कुछ समझ लेने के पश्चात् ईश्वर के विषय मे जो अनेकानेक साम्प्रदायिक शकाएँ सुनने मे आती हैं, उनके लिए भी कोई अवकाश नही रह जाता। ये सब शकाएँ ईश्वर को एक अतिमानव अथवा महामानव कल्पित करके उदित हुई हैं, जब कि यह शब्द सप्तम लोक के वासी किसी व्यक्ति विशेष का वाचक न होकर हमारे उसी महातत्त्व का वाचक है, जिसका प्रकरण यहाँ चल रहा है। सृष्टा-शक्ति से युक्त होने के कारण वह महातत्त्व ही 'ईश्वर' कहा जाता है। अपनी स्पन्दात्मिका इस चिति शक्ति के कारण उसके भीतर स्वय विविध वैकल्पिक जगत उदित हो होकर विलय होते रहते हैं, जिसमे उसके स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी हेतु नही है।

यहाँ यह शका सम्भव हो सकती है कि पौराणिक जगत् मे ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु महेश आदि महामानवो के रूप मे प्रसिद्ध है, न कि तत्त्व के रूप में? बात ठीक है, परन्तु यह वास्तव मे ऋषि जनो की अथवा कवि जनो की एक आलकारिक कल्पना है, अक्षरश सत्य नहीं। अलकार काव्य का शृगार है इसलिए वहा इस प्रकार की कल्पनाएँ असगत नही। परन्तु ये कल्पनाएँ सर्वथा निस्सार हो, ऐसा भी नही समझ लेना चाहिए क्योकि जैसा कि आगे यथा-स्थान बताया जानेवाला है उनकी इन कल्पनाओ मे तत्त्व का तथा

उसकी शक्ति का ही प्रतीकात्मक चित्रण किया गया है, जिसका उद्देश्य निर्नाम तथा नि.रूप को सनाम तथा सरूप बनाकर अथवा निर्गुण तथा निराकार को सगुण तथा साकार बनाकर साधारण भूमिवाले उपासकों का मार्ग सरल करना है, अन्य कुछ नही।

अशरीरी होने के कारण कुम्भकार आदि की भांति हाथ पाँव की क्रिया के द्वारा सृष्टि रचने का यहाँ स्वप्न भी देखा जाना सम्भव नही है, न ही इच्छापूर्वक वह इस प्रकार का उपक्रम करता हो—ऐसी कल्पना को अवकाश है। क्योकि इच्छा अपूर्णता की द्योतक है, जब कि हमारा यह तत्त्व पूर्ण है। स्पन्दात्मिका शक्ति के रूप मे जहाँ सब कुछ अव्यक्त रूप से पड़ा है, वहाँ कौन वस्तु अप्राप्त है, जिसकी वह इच्छा करे ? अव्यक्त को व्यक्त करने की इच्छा का भी प्रश्न नही, क्योकि स्पन्दन उसका स्वभाव है और जगत् का यह वैचित्र्य उस स्पन्द का कार्य है। क्या सागर को तरंगें उत्पन्न करने के लिए अथवा मन को स्वप्न देखने के लिए कोई इच्छा करनी पड़ती है ?

मृत्तिका ग्रहण करके घटका निर्माण करने वाले कुम्भकार की भाँति उसे अपने अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ को उपादान-रूपेण ग्रहण करना पडता हो, ऐसा भी नही है, क्योंकि उसकी अपनी सत्ता के अतिरिक्त यहाँ है ही क्या, जिसे वह ग्रहण करे ? क्या सागर को तरगें उत्पन्न करने के लिए अथवा मन को स्वप्न-जगत उत्पन्न करने के लिए अपने से अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की आवश्यकता पडती है ? जैसा कि आगे वताया जानेवाला है यह जगत भी वास्तव में मानसिक जगत की भाँति वैकल्पिक ही है। वैकल्पिक होने के कारण इस जगत् का निर्माण करने मे ईश्वर नामक इस महातत्त्व को न आवश्यकता है किसी उपादान की और न निमित्त की। वह स्वयं ही इसका उपादान है और स्वय ही इसका निमित्त। यह द्वैत भी वास्तव में भेद-दृष्टि की उपज है, जिसके अनुसार प्रकृति नामक उसकी स्पन्द-शक्ति तो इस जगत् का उपादान है और उसका प्रेरक होने से प्रकृति-विहीन कूटस्थ तत्त्व अथवा परमात्मा उसका निमित्त है। 'ईश्वर सृष्टि रचता है' इत्याकारक कर्तृत्व भी वास्तव मे औपचारिक कथन है, क्योकि वहाँ तो स्पन्दन-शक्ति के द्वारा सब कुछ स्वत. स्फुरित होता प्रतीत होता है, इच्छापूर्वक कुछ किया गया नही।

तृतीय नेत्र की अप्राप्ति ही वास्तव में इस प्रकार की बे-सिर-पैरवाली शकाओं का मूल कारण है, क्योकि तत्त्व-द्रष्टा के लिए कहीं भी किसी सन्देह को अवकाश नही। जिनको आज तक सर्व आत्माओ के आत्मा उस परमात्मा

के स्पर्श का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ, और जिनकी दृष्टि केवल जीवात्मा तक सीमित है, ऐसे अद्ध प्रबुद्धो के हृदय मे ही ये उदित होती हैं, क्योकि अन्तिम सत्यका स्पश न करने के कारण वे उपासना के क्षेत्र मे मुक्तात्माओ को ही परमात्मा तथा ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित करके अपना काम चलाते हैं। परमात्मा अथवा ईश्वर शब्द को पढकर या सुनकर उनका लक्ष्य एक अखण्ड तथा विभु तत्त्व पर न जाकर मुक्तात्माओ पर ही अटक जाता है।

यहाँ उन वीतरागी परम गुरुओ की तथा मुक्तात्माओ की बात नही की जा रही है, जो शरीर म रहते हुए भी अपने हृदय की असीम व्यापकता के कारण परमात्मा बन गये हैं, जिनका अहकार परमात्मा मे विलीन हो गया है, जिनका व्यक्तित्व परमात्म तत्त्व के साथ एकाकार होकर अपने परमात्मा नाम को साथक कर रहा है। वे महात्मा अवश्य ही सृष्टि कर्ता नही हैं। समस्त सकल्पा से शून्य भला उनके 'अह' को सृष्टि-रचना की आवश्यकता ही क्या है ? यदि कदाचित् पड भी जावे, तो वे ऐसा करने म समथ ही कहा हैं, और यदि समय भी हो तो उनका 'अह' अब शेप ही कहाँ रह गया है जिसके विपय मे विचार किया जाय ?

देखिये, जब उनका 'अह' हमारी भाँति के किसी क्षुद्र व्यक्तित्व का धारण किये बैठा था, तब तो उसका सृष्टि रचने का सकल्प उपहास के अतिरिक्त और क्या हो सकता था और अब जब कि वह 'अह' मूल सत्ता के साथ एकमेक होकर विलीन हो गया तब उससे पृथक् वह रह ही कहाँ गया, जो कि अपने से पृथक् किसी सृष्टि की रचना करने बठे। वे स्वय मूलसत्ता बन गये हैं, उसकी सामथ्य ही अब उनकी सामथ्य है और उसकी सृष्टि ही उनकी सृष्टि। इस प्रकार देखने पर वे भी सृष्टि-रचयिता हैं ही।

यहाँ यह शका हो सकती है कि यदि सृष्टि नामक यह उपक्रम ईश्वर का स्वाभाविक काय है तो उसे सवत्र सवदा समान रहना चाहिए। दु ख सुख आदिक विविध द्वन्द्वो के रूप मे जो यह वैपम्य दिखाई देता है, वह ईश्वर के किसी पक्षपात के विना होना सम्भव नही है। भैया ! यह शका भी उसी समय तक जीवित है जिस समय तक जगत के ये सकल पदाथ तुझे एक दूसरे से पृथक् अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते प्रतीत होते हैं। अग्रिम प्रकरणो के अवलोकन से जब तुझे यह निणय हो जायेगा कि स्वप्न-जगत् की भाँति यह अखिल विस्तार केवल स्पन्द सागर का विलास है, और ऐसा हाने के कारण परमायत मिथ्या है, तो तेरी यह शका स्वय विलीन हो जायेगी।

इस दृष्टि से देखने पर यहाँ न कुछ दुःख है और न कुछ सुख है। स्पन्दित सागर की ऊँची-नीची तरंगों की भाँति यह वास्तव में स्पन्द का निज स्वरूप है; क्योकि जिस प्रकार ऊँचापना तथा नीचापना हुए बिना तरंगें सम्भव नही, उसी प्रकार वैकल्पिक वैषम्य के बिना सृष्टि सम्भव नहीं। जिस प्रकार शान्त सागर में तरंगें नहीं होती, अथवा जिस प्रकार जाग्रत मन में स्वप्न नहीं होता; उसी प्रकार तत्त्व की साम्यावस्था में सृष्टि नही होती। 'सृष्टि' शब्द का अर्थ वास्तव में किसी अनहुई वस्तु का निर्माण नही है. प्रत्युत शक्तिरूपेण जो पहले से विद्यमान है, उसका विस्तार है। इस अर्थ को न समझने के कारण ही इस प्रकार की शंकाएँ उदित हैं, इसलिए सृष्टि के वास्तविक अर्थ का द्योतन अगले अधिकार में किया गया है। •

२१. सृष्टि नहीं, विस्तार

ओह कितना विस्मयकारी है इस महातत्त्व का यह विराट शरीर, समष्टिस्पन्द का यह महासागर, तैर रही हैं जिसके वक्ष पर विश्व की ये अनन्त चराचर व्यष्टिएँ, तरंगों, भँवरों तथा बुदबुदों की भाँति। कल्पना नहीं सत्य है यह, शरीरधारी पुरुष नही तत्व है यह, एक व्यापक तत्व, अखण्ड, निराकार, एक मौलिक पदार्थ, जिस पर तथा जिसमें हो रहा है यह स्पन्द।

एक से अनेक हुआ आ रहा है यह स्वयं, स्फुरित हुआ जा रहा है यह स्वय, अपनी इस स्पन्द शक्ति के द्वारा, बीज से उत्पन्न वृक्ष की भाँति। कुछ नया उत्पन्न नही हो रहा है, कुछ भी कहीं बाहर से नही आ रहा है। जो था वही उत्पन्न हो रहा है, जिसमें था उसमें से ही निकल आ रहा है। जो अव्यक्त था, वही व्यक्त हुआ जा रहा है।

बस, यही है 'सृष्टि' शब्द का अर्थ। Creation नही, Manifestation। तत्व मे जो कुछ तिरोहित है, अव्यक्त है, वही आविर्भूत हो जाता है, व्यक्त हो जाता है, स्वप्नावस्था में एक मन से उत्पन्न अनेकाकार जगत् की भाँति। जिस प्रकार सत्य का नाश सम्भव नही, उसी प्रकार असत्य की उत्पत्ति भी सम्भव नही। इसलिए सर्वथा अनहुए पदार्थ का बनना 'सृष्टि' शब्द का अर्थ नही है।

यहाँ न है आवश्यकता किन्ही अन्य उपादान तथा निमित्त कारणो की, न अन्य विविध कारको की। तत्व स्वयं ही है अपना उपादान तथा निमित्तादि सब कुछ। स्वयं अपनी स्पन्दता शक्ति के द्वारा अपने में से ही सब-कुछ प्रकट कर रहा है। यह अपने वक्ष पर धारण करके उनका उपभोग भी स्वयं कर रहा है, और अन्त मे सागर की तरंगो की भाँति, अथवा मानसिक स्वप्न जगत् की भाँति उसे स्वयं अपने म ही लीन भी कर रहा है यह।

जब वैज्ञानिकों का जड ईथर स्वयं स्वभाव से सब कुछ हो सकता है, तब मेरा तत्व तो चेतन है वह स्वयं क्यो सब कुछ नही हो सकता ? सवसमर्थ होने से वह स्वयं अपना ईश्वर है, अपना प्रभु है, फिर भी उसे अपने इस काय म अपने अतिरिक्त अन्य किसी ईश्वर की आवश्यकता ही क्या ?

बौद्धिक जगत् मे रहने पर भले हो आप इसे सृष्टि रचना कहें या कुछ और, परन्तु आनन्दमय हार्दिक जगत् मे प्रवेश करने पर न रहती है सृष्टि न प्रलय, रह जाता है केवल एक विलास, एक लीला, एक नृत्य, जो सहज स्वभाव मे स्वयं हो रहा है।

ओह! कलाकार हैं आप कितने सुन्दर, जी चाहता है कि चरण चूम लू आपके। कितने मग्न होकर नृत्य कर रहे हैं आप ? किस प्रकार थिरक रही हैं आपके अंगभूत ये अनंत सृष्टियाँ। दुखी होकर चीख रहे हैं वे सब, दुहाई दे रहे हैं आपको, कि बस करो हम तो मरे जा रहे हैं-और आपको नाखुने की सूझी है। पर सुनते ही नही आप इनकी एक भी। सुनें भी कैसे, आपको होश ही कब है इतना। और यदि सुन भी लें तो रोक ही कैसे सकते हैं आप अपने नृत्य को ? छोड ही कैसे सकते हैं आप अपने विलास को ? क्योंकि, स्वरूप ही है यह तो आपका।

हे अहंकार! तू तथा तेरी ही भाँति ये अनन्त व्यष्टियाँ भी अपने को उससे पृथक् समझते हुए भले इस प्रकार दुखी होकर रोते रहे, परन्तु उसे समष्टि शरीर के रूप म देखने पर तू ही बता कि कहाँ रह जाती हैं फिर भी इनकी पृथक् सत्ताएं ? वे तो हैं उसके विविध अंगोपांग जिनको फड़का-फड़का कर नाच रहा है यह और वे सब उसके अंगोपांग भी नाच रहे हैं, फड़क रहे हैं, आनन्द ले-लेकर। क्या बिना अंगो को फड़काये या दुखी किये भी कोई नाच सकता है ? क्या नृत्यकार के हाथ पाँव तथा उँगलियाँ भी कभी यह कहते सुने गये हैं कि 'बन्द कर अपना नृत्य, हम दुखी हो गये हैं।' वे उसके पृथक्

हैं ही कहाँ ? व्यष्टि दृष्टि से देखने पर जो दुःख है, वही है समष्टि दृष्टि से देखने पर आनन्द।

देख सागर की तरंगों को, बन-बनकर बिगड़ रही हैं, जन्म रही हैं, मर रही हैं, एक दूसरे से लड़-भिड़कर नष्ट हो रही हैं। पृथक्-पृथक् उनसे पूछो तो वे भी यही कहेगी जो तू कह रहा है, परन्तु सम्पूर्ण सागर को एकाकार देखने पर तो यह सब कुछ सौन्दर्य ही है, विलास ही है। न वहाँ कुछ उत्पन्न हो रहा है न नष्ट, वह तो उसका स्वरूप ही है। यदि उछल-कूद न हुई होती तो उसे सागर ही कौन कहता ? इसी प्रकार यदि व्यष्टियों का जन्म-मरण तथा दुःख-सुख न हुआ होता तो सृष्टि ही कहाँ होती ? कोरा शून्य होता। फिर तू स्वयं भी उसे भली-बुरी सुनाने के लिए कहाँ से आता ?

अतः छोड़ अपनी सकीर्ण दृष्टि, जा उसी की शरण में, मानकर उसे अपना पिता, अपना स्वामी, अपना ईश्वर; और प्रार्थना कर उससे तृतीय नेत्र की, जिससे कि दर्शन कर सके तू समष्टि रूप में इस विश्व का और यदि हो गया एक क्षण को भी ऐसा, तो जीवन ही बदल जायेगा तेरा, आनन्द छा जायगा तेरे रोम-रोम मे। •

२२. संस्कार-शक्ति

यहाँ पुनः यह शंका होती है कि भले ही परमार्थ-भूमि पर इन द्वन्द्वो की कोई सत्ता न हो, परन्तु व्यवहार-भूमि पर तो है ही। इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए, क्योकि कारण के बिना कार्य होना न्याय-सगत नही। ठीक है, व्यवहार-भूमि पर अवश्य यह वैषम्य सहेतुक है। उसका वह हेतु है 'संस्कार'। जिस प्रकार मनोगत वैकल्पिक जगत का अथवा स्वप्न-जगत् का वैषम्य व्यक्तिगत संस्कारों के अधीन होता है, स्वतन्त्र नही, उसी प्रकार विश्वगत इस वैकल्पिक जगत् का वैषम्य समष्टिगत सस्कारों के अधीन है, स्वतन्त्र नही। इसीलिए सृष्टि-प्रक्रिया मे ईश्वर को स्वतन्त्र न कहकर संस्कारो के अधीन कहा गया, अर्थात् पूर्व-संचित संस्कारों के अनुसार ही स्पन्द सागर में से सृष्टि की स्फुरणा होती है, उससे निरपेक्ष नही। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जानेवाला है। पूर्व-संचित ये संस्कार चूँकि हमारे ही कर्मों के परिणाम हैं, इसलिए दु:खी-सुखी का भेद किसी व्यक्तिगत पक्षपात के कारण

न होकर स्वभाव-हेतुक ही है। सृष्टिका वैषम्य सस्कारो के वैषम्य पर आधारित है। इसलिए इस सकल वैषम्य म हमारे कर्म ही हेतु है, ईश्वर का पक्षपात नही।

सृष्टि प्रक्रिया के इस प्रकरण मे समष्टिगत सस्कार राशि का जो उल्लेख ऊपर किया गया है वह महत्त्वपूर्ण विषय है। अतएव यहाँ इस विषय का कुछ अध्ययन प्रस्तुत कर देना आवश्यक समझता हूँ। 'सस्कार' शब्द का अर्थ सब जानते हैं। मन, वाणी तथा शरीर से जो कुछ भी सोचते हैं अथवा बोलते हैं अथवा करते हैं, वह सब कर्म कहलाता है। 'कर्म' यद्यपि उसी समय समाप्त हो जाता है, तदपि वह सर्वथा समाप्त नहीं हो जाता। समाप्त होने से पहले चित्त भूमि पर उसी प्रकार अपना सस्कार अकित कर देता है, जिस प्रकार कि ग्रामोफोन रेकार्ड पर रेखाएँ। जिस प्रकार ग्रामोफोन रेकार्ड पर अकित रेखाओ मे वक्ता की वाणी अव्यक्त रहती है और सुई का योग पाकर व्यक्त हो जाती है, उसी प्रकार चित्त भूमि पर अकित इन सस्कारो मे हमारे उक्त कर्म अव्यक्त रहते हैं और यथोचित निमित्तो का योग पाकर व्यक्त हो जाते हैं। सस्कारो की यह अभिव्यक्ति ही कर्मों का फल कहलाता है।

अस्मद् युष्मद् की भाति जगत् के सकल जड अथवा चेतन पदार्थ नित्य कुछ न कुछ कर्म अवश्य करते रहते हैं, जिनके सस्कार उन उन के चित्तो पर अकित रहते हैं। इन सब व्यष्टियो के चित्तो का समूह विश्व का एक चित्त है और उन सकल चित्तो पर अकित सस्कारो का समूह विश्व का एक सस्कार कहलाता है। व्यष्टि मे तथा समष्टि मे प्रति क्षण सस्कारो का निर्माण होना रहता है और प्रतिक्षण पूर्वसचित सस्कारो का कुछ-कुछ भाग कर्मफल के रूप मे उदित हो-होकर नष्ट होता रहता है। उनका शेष भाग चित्त के कोष मे सुरक्षित पडा रहता है। समष्टिगत इन सस्कारो का समूह ही वह सस्कार-राशि है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

जिस प्रकार हमारा प्रत्येक कर्म पूर्वसचित सस्कार से प्रेरित तथा उससे अनुरजित रहता है उसी प्रकार ईश्वर का प्रत्येक कर्म पूर्वसचित इस सस्कार-राशि से प्रेरित तथा उससे अनुरजित होता है। जिस प्रकार हमारा प्रत्येक कर्म पूर्वसचित सस्कार के अनुसार ही होता है—उससे निरपेक्ष नहीं, उसी प्रकार ईश्वर का सृष्टिरूप यह विशाल कर्म भी पूर्वसचित इस सस्कार-राशि के अनुसार ही होता है—उससे निरपेक्ष नहीं। •

२३. सत्य ज्ञान

ओह ! कितना महान् है आपका रूप और कितनी कुशलता से छिपाया है आपने अपना स्वरूप, इस उपरितलवर्ती अनन्त विस्तार के नीचे ? कैसे देख सकता है कोई साधारण व्यक्ति उसको अपने इस तुच्छ ज्ञान से ? उसको तो दीखती हैं यह सब पृथक्-पृथक् अनन्त व्यष्टिएँ सत्य ।

भैया ! तुझे दीखती हैं, इसलिए क्या ये सत्य हो जायेंगी ? यह तो सोच कि सत्य तथा ज्ञान में कौन किसके आधीन है ? सत्य ज्ञान के आधीन है या ज्ञान सत्य के ? जैसी वस्तु होती है वैसा ज्ञान देखता है, या जैसा ज्ञान देखता है वैसी वस्तु हो जाती है ? ज्ञान यदि अंधकार में स्थित ठूंठ को चोर जानकर डर जाये, अथवा रेल मे वैठकर वाहर के वृक्षों को चलता देख ले, तो क्या वे ऐसे हो जाते हैं ?

इसलिए वस्तु के सत्य स्वरूप का निर्णय तू अपने इस तुच्छ ज्ञान से कैसे कर सकता है ? ज्ञान के अनुसार सत्य को वनाने का प्रयत्न मत कर । भाई ! सत्य के अनुसार ज्ञान को वनाने का प्रयत्न कर । वहुत संभव है कि उपर्युक्त दृष्टान्तो के अनुसार किसी मतिभ्रम के कारण ही तुझे ये सब पृथक्-पृथक् से दीख रहे हों, और वास्तव में ये वैसे न हों ? हो सकता है कि जिसे तू ज्ञान समझे वैठा है, वह वास्तव मे भ्रम ही हो । क्या वालक कॉच के टुकड़े को रत्न नही समझ लेता ? जिस प्रकार उसकी दृष्टि मे कॉच के टुकड़े उस समय तक रत्न बने रहते है, जिस समय तक कि रत्न-परीक्षा का ज्ञान उसे नही हो जाता, उसी प्रकार ये पदार्थ तेरी दृष्टि में उसी समय तक सत्य प्रतीत होते हैं, जब तक कि सत्यज्ञान तुझमें जागृत नहीं हो जाता ।

देखिये, स्वप्नावस्था मे स्थित आप स्वयं क्या अपने उस स्वप्न-जगत् को सत्य नही समझते, और उसमे सत्यवत् व्यवहार करते हुए भय, लज्जा, सुख-दु ख आदि का साक्षात् अनुभव नही करते ? सम्भवतः यह जगत् इस तत्त्व का स्वप्न हो और आप हो उसी के अन्तर्गत एक स्वप्न-पुरुष ?

जिस प्रकार ऑख खुल जाने पर ही यह पता चलता है कि इससे पहले की मेरी जाग्रति-रहित अवस्थावाला वह स्वप्न-जगत तथा तज्जनित सुख-दुःख

आदि असत्य थे, उसी प्रकार सत्य ज्ञान की तृतीय चक्षु खुल जाने पर ही यह पता चलता है, इससे पहले नहीं, कि जगत् के ये नाम रूपात्मक पदार्थ तथा तज्जनित सुख दु ख आदि वास्तव म असत्य हैं।

जिस प्रकार पलग पर सोये हुए आप स्वय अपने को स्वप्न पुरुष के रूप मे जाग्रत देखते हैं, और वह स्वप्न पुरुष स्वप्न म ही पुन -पुन आँखें मल-मलकर अपने को जाग्रत करता रहता है, इसी प्रकार बहुत सम्भव है कि प्रगाढ निद्रा मे सोया हुआ भी आपका सत्य-स्वरूप अपने को वर्तमानवाले इस दृष्ट रूप मे जागृत देख रहा हो, और आपका यह वर्तमान रूप जो कि वास्तव मे स्वप्न-पुरुष के तुल्य है, आपकी उस निद्रा म ही पुन पुन आँखें मल-मलकर अपने को जाग्रत बता रहा हो।

आपके इस स्वप्न ज्ञान की पोल तो आप पर इसलिए खुल गयी है कि आप प्रतिदिन सो कर पुन पुन जाग्रत हो जाते हैं, परन्तु इस वर्तमान ज्ञान की पोल आप पर इसलिए खुल नहीं पायी है कि अनादि काल से अब तक एक क्षण को भी आपकी वह तृतीय चक्षु खुली नहीं है। कल्पना कीजिये कि यदि आज तक आप सदा सोते ही रहते, एक बार भी न जागते, तो क्या कभी भी आप अपने स्वप्न जगत् को मिथ्या जान पाते, भले ही हजारो बार गुरु स्वप्न मे प्रकट हो होकर आपको आपके स्वप्न ज्ञान की असत्यता समझाने का प्रयत्न करते रहते ?

जिस प्रकार जाग्रत दशा मे आपके स्मृति-पट पर स्वप्न-जगत् तथा तज्जनित सवेदनाएँ ज्यों की त्यों अंकित रहते हुए भी आप उसकी ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं करते, इसी प्रकार खुल गया है तृतीय नेत्र जिनका, ऐसे ज्ञानी जनोंको इन्द्रियों द्वारा इस जगत् की तथा तज्जनित सवेदनाओं की ज्योंकी त्यों प्रतीति होते रहते भी वे इनकी ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं करते।

जिस प्रकार स्मृति-पट पर अंकित स्वप्न-जगत् तथा तज्जनित सवेदनाएँ आप को सुखी-दुखी नहीं कर सकती, और अपने काम मे लगे हुए आप उन्हे केवल तटस्थ भाव से जानते ही रहते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त ज्ञानी को यह असत्य जगत् तथा तज्जनित सवेदनाएँ दुखी-सुखी नहीं कर पाती। वह अपने सत्य स्वरूप म मग्न हुआ केवल उसे तटस्थ भाव से जानता ही रहता है। उसके देखने जानने का ढग बदल जाता है, और यही है उसके तृतीय नेत्र का खुलना।

तात्त्विक दृष्टि का उदय हो जाने पर क्रम बदल जाता है, अर्थात् जगत् की व्याप्ति ज्ञान के साथ न रहकर ज्ञान की व्याप्ति जगत् के साथ हो

जाती है। यहाँ पदार्थ के अनुसार ज्ञान नही होता, ज्ञान के अनुसार पदार्थ प्रतिभासित होता है। इसका कारण यह है कि यहाँ इन्द्रियों का अवलम्बन छूट जाता है और उसका स्थान विवेक ले लेता है। जैसा-जैसा ज्ञान होता है, वैसा-वैसा ही वह देखा करता है। जैसा-जैसा पदार्थ होता है, वैसा-वैसा देखने का प्रयत्न नही करता। ढोल की सामान्य ध्वनि में अपनी-अपनी कल्पनाओ के अनुसार कोई 'सीता राम दशरथ' सुनता है और कोई 'नून तेल अदरख'।

इसलिए बाहर का यह जगत् क्या तथा कैसा है, इस विषय में हम असत्य लोकवासियों को कुछ भी कहने का अधिकार नही है। ज्ञानीजन ऐसा कहते है कि ज्यो-ज्यो सत्य ज्ञान का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों यह जगत् अन्य-अन्य प्रकार का भासता जाता है। यहाँ तक कि चरम स्थिति पर पहुँचकर, समस्त कालान्तरवर्ती पर्यायों के भेदों को अनेक व्यष्टि-सत्ताओं मे, और उन अनेक व्यष्टि सत्ताओं को परमात्मा नामक इस अखण्ड सत्ता मे लीन करता हुआ, यह ज्ञान कैसा विशाल बन गया है कि तर्क जिसके साये को भी पा नही सकता।

प्रभु हम सभी को वह तृतीय नेत्र प्रदान करें, जिससे कि हम इस नामरूपात्मक दृष्ट-जगत् को असत्य देखते हुए, समस्त संकल्प-विकल्पो से अतीत होकर, तटस्थ भाव में स्थित रहने के योग्य हो सकें। ●

२४. तृतीय नेत्र

१. शंका

क्यो ? सोच में पड़ गये ? सोच रहे होगे कि 'कहाँ तो ईथर और कहाँ ईश्वर, कहाँ स्पन्द और कहाँ चेतन ? ईथर जड़ और ईश्वर चेतन। चेतन में स्पन्द कैसा और स्पन्द में चेतनता कैसी ? स्पन्द है तो चेतनता नही और चेतनता है तो स्पन्द नही। ईश्वर जल जैसा कोई तरल पदार्थ तो है नही कि इसमें तरगें उत्पन्न हो सकें। दूसरी ओर इसे विभु अथवा आकाशवत् सर्वव्यापक कहा जा रहा है। सर्वत्र ठसाठस भरे हुए पदार्थ में क्रिया अथवा कम्पन कैसे सम्भव हो सकता है ? इन सबके ऊपर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष इस जगत् को मनोगत वैकल्पिक जगत् के साथ अथवा स्वप्न-जगत् के साथ उपमित करके

टाल देना और काल्पनिक ईश्वर को सत्य कहना ? मदिरा मत्त भले कर ले, ऐसी उलटी-सीधी बातो पर विश्राम, होश-हवासवाला कौन व्यक्ति ऐसा है जो इन पर विश्वास कर सके ?'

ठीक है भाई, ठीक है। इस प्रकार की शकाओं का उदित होना व्यवहार-भूमि पर स्वाभाविक है। यह एक लक्षण शुभ लक्षण है। आपने मेरी बातो को केवल सुनकर छोड नही दिया, प्रत्युत इन पर चिन्तन मनन किया है, और इसके लिए आपके हृदय मे सत्य को, अधिक निकट से देखने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। ठीक ही है, दूर से देखने पर जो मृगमरीचिका जल का सागर दिखाई देती है, वही निकट जाने पर बालू मात्र रह जाती है। उसे निकट से देखने की भावना उचित ही है अन्यथा भ्रान्ति का दूर होना सम्भव नही। अब आप के समझने मे थोडी ही देर है। मत घबराइये, आइये मेरे साथ। लीजिये मेरी अँगुली पकड लीजिये, मैं आपको इसके निकट लिये चलता हूँ।

'ईथर' तथा 'ईश्वर', इन दोनो के विषय म तो समाधान किया जा चुका है कि 'ईथर' का ग्रहण उदाहरण के रूप मे किया था, न कि सिद्धान्त के रूप मे। उसके समझ लेने पर ईश्वर को समझना अत्यन्त सरल हो जाता है, क्योंकि दोनो के स्वरूप मे जडत्व तथा चेतनत्व के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नही है। इनके जडत्व तथा चेतनत्व का भी समाधान कर दिया गया है कि यह केवल दृष्टि भेद है। विज्ञान अपने तत्त्व को जड मानकर उसम से चेतना शक्ति उत्पन्न करता है और हम अपने तत्त्व को चेतन मानकर उसम से जडत्व उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार न वे जड-चेतन का कोई मौलिक भेद स्वीकार करते हैं और न हम। उनकी अपेक्षा यह स्पन्द के वेग की तरतमता का परिणाम है और हमारी अपेक्षा यह केवल तमोगुण तथा सत्वगुण के प्रावल्य का परिणाम है।

२ चेतन स्पन्द

हाँ, आपकी जो स्पन्द विषयक तीसरी शका है, वह अवश्य विचारणीय है, क्योंकि हम अपने इस तत्त्व को न तो ईथर की भाँति जड मानते हैं और न जल की भाँति कोई तरल पदार्थ। इसके अतिरिक्त हम इसे अणु प्रमाण अथवा किसी मध्यम परिणामवाला न मानकर विभु मानते हैं। फिर भी इसमे स्पन्द की कल्पना सम्भव न हो सके, ऐसा नही है। यह ठीक है कि इसका स्पन्द न तो सागर म जल की तरगो जैसा है और न ईथर मे दबाव की घनता तथा विरलता जैसा। चेतन स्वभावी तत्त्व का स्पन्द भी चेतनात्मक होता है। इसलिए उसे अपनी स्पन्दात्मक क्रिया करने के लिए अपने से अतिरिक्त अन्य

किसी क्षेत्र या देश की आवश्यकता नही पड़ती है। यहाँ पुनः यह प्रश्न हो सकता है कि यदि उसका वह स्पन्द चेतनात्मक कुछ है, तो उसे चेतनत्व की भाँति अमूर्तीक होना चाहिए, और ऐसा हो जाने पर उसके द्वारा इन्द्रिय-गोचर इस मूर्तीक जगत् का उद्भव कैसे हो सकता है? यह प्रश्न भी उचित ही है, परन्तु इसका सद्भाव उसी समय तक है, जिस समय तक कि आप चेतनात्मक स्पन्द का स्वरूप और उससे उद्भूत इस जगत् का पारमार्थिक स्वरूप समझ नही जाते। उसके समझ जाने पर आपकी जो जगद्-मिथ्यात्व विषयक चौथी शंका है, वह भी निर्मूल हो जायगी। लीजिये, अब हम चेतनात्मक स्पन्द के विषय मे कुछ विचार करते है।

इस विषय मे प्रवेश करने से पहले आपको अपने पाँव इस भूमि पर दृढ़ता से जमा देने चाहिए कि चेतन पदार्थ तथा उनका कोई भी कार्य इन्द्रिय-गोचर नहीं हो सकता, और यदि होता है तो वह भ्रान्ति है। परन्तु इन्द्रिय-गोचर न होकर भी वह अपने भीतर में अनुभव-गोचर अवश्य है, अन्यथा उनकी सत्ता काल्पनिक बनकर रह जायेगी। लीजिये, अब इन्द्रियों का आश्रय छोड़कर अपने भीतर मे अनुभव कीजिये। वहाँ आपको किसी प्रकार का स्पन्द प्रतीति में आता है या नही? मन अथवा चित्त की भाग-दौड़ को कौन नही जानता? वह एक क्षण में इस अखिल विश्व की तीन वार परिक्रमा करके लौट आता है। क्या उसमें अपनी इस क्रिया के लिए अपने से अतिरिक्त किसी अन्य देश की आवश्यकता है? क्या इस क्रिया के लिए उसे अपने देश से वाहर निकल कर कही जाना आना पडता है? इसी प्रकार वह एक क्षण में इस दृष्ट जगत् से भी अनन्त गुणा जगत् तीन वार बना कर मिटा देता है। क्या अपनी इस क्रिया के लिए उसे अपने अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की या किसी अन्य देश की आवश्यकता पड़ती है? बस, यही है वह चेतनात्मक स्पन्द जिस पर से कि ईश्वर नामक उस महातत्त्व के स्पन्द का भलीभाँति अनुमान लगाया जा सकता है। चित्त-स्पन्द की भाँति वह भी विकल्पात्मक होता है, सागर की तरंगों की भाँति जड़ात्मक नही। इसलिए उसे इसके लिए अपने से अतिरिक्त किसी अन्य देश की आवश्यकता नही है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि चित्त को ज्ञानियो ने जड़ कहा है, इसलिए विकल्पात्मक भी उसका यह स्पन्द जड़ है, जिसका ईश्वर नामक चेतन तत्त्व में होना सम्भव नही है। सो भाई! इस प्रश्न का उत्तर यद्यपि पहले दिया जा चुका है, तदपि अधिक विशदत्ता के अर्थ पुनरपि कथन करता हूँ। एक अखण्ड तत्त्व को विश्लेषण द्वारा द्विधा विभक्त कर देने पर ही ज्ञानियों ने

ऐसा कहा है; परमार्थत नही। इस दृष्टि से आभ्यन्तर तथा बहिरंग, इस अखिल विस्तार से युक्त यह सृष्टि 'प्रकृति' का कार्य है पुरुष का नही। पुरुष से पृथक् हो जाने के कारण चूंकि इस दृष्टि मे प्रकृति जडा' कहा जाती है— इसलिए उसके कार्यभूत इस सृष्टि का भी जड हो जाना स्वाभाविक है। चित्त भी उस जड सृष्टि का एक छोटा सा अग है। इसलिए 'जड' कहा जाता है। परमार्थत तो चेतन तत्त्व का कार्य होने से यह अखिल सृष्टि भी चेतन है, यहाँ जड कुछ है ही नही। जड-चेतनता विभाग केवल गुणकृत है।

इस प्रकार देखने पर यह सिद्ध हो जाता है कि चित्तगत यह वैकल्पिक स्पन्द चेतन है, और इसलिए ईश्वर नामक चेतन तत्त्व का स्पन्द भी वैकल्पिक ही होता है। किसी अन्य प्रकार का नही। तदपि इन दोनो मे देश काल तथा शक्ति की दृष्टि से महान अन्तर है। चित्त का देश अणु प्रमाण है और ईश्वर का महान्, चित्त का काल क्षण मात्र अथवा अत्यल्प है और ईश्वर का अनाद्यनन्त, चित्त की शक्ति तुच्छ और ईश्वर की कल्पनातीत। इसी कारण चित्तगत वैकल्पिक जगत् की अथवा स्वप्न जगत् की प्रतीति इस शरीर मे होती है और ईश्वरगत वैकल्पिक अथवा स्वप्न-जगत् की स्थिति क्षणमात्र है और ईश्वरगत वैकल्पिक जगत् की स्थिति सृष्टि से प्रलय काल पर्यन्त है। चित्तगत वैकल्पिक जगत् का विस्तार अत्यन्त क्षुद्र है और ईश्वरगत वैकल्पिक जगत् का विस्तार विश्वरूप है। इन बातो के अतिरिक्त इन दोनो मे कोई जातिगत भेद नही है।

३ चेतन स्पन्द का वैकल्पिक जगत

चेतन स्पन्द का स्वरूप समझ लिया गया, परन्तु इस पर से यह कैसे जाना जाय कि केवल इस साधारण से वैकल्पिक स्पन्द के द्वारा चित्र विचित्र पदार्थों से समवेत इस विशाल सृष्टि का यह अनन्त विस्तार कैसे उत्पन्न हो जाता है, और उत्पन्न होने के पश्चात् पुन लीन कैसे हो जाता है? लीजिये, इस प्रश्न का सर्वानुभव सिद्ध चित्रण प्रस्तुत करता हूँ। परन्तु सुनने से पहले आपको यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वैकल्पिक स्पन्द के द्वारा उत्पन्न सृष्टि भी वैकल्पिक ही होनी स्वाभाविक है।

कल्पना करो कि आप तूष्णी अवस्था म बिलकुल निश्चिन्त, निर्विषय तथा शान्ति बैठे हैं। सहसा आप के भीतर 'अहता' उभरती प्रतीत होती है, और उसके अनन्तर क्षण मे ही विविध विकल्प आकर उसकी परिक्रमा करने लगते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसी शान्त सरोवर मे एक छोटी-सी कक्डी फेंकने पर उसके जल मे एक केन्द्र उत्पन्न होता है और अनन्तर क्षण

में ही एक के पश्चात् एक करके अनेकानेक वीचि-तरंगें उसे घेर लेती हैं। वस, यही है आप के चित्तगत विस्तार की अनुभवगम्य प्रक्रिया, जिस पर से कि विश्वगत सृष्टि-विस्तार की प्रक्रिया का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

इसी विषय में दूसरा दृष्टान्त स्वप्न का भी हो सकता है। कल्पना करें कि आप गहरी निद्रा में सुषुप्त हैं और किसी भी प्रकार का कोई स्वप्न नही देख रहे है। सहसा आप के समक्ष आप की ही एक स्वाप्निक आकृति बनकर खड़ी हो जाती है और उसके अगले क्षण में ही आप के पूर्व-संचित संस्कारों के अनुसार चित्र-विचित्र प्रपंच उदित होकर उस आप की आकृति को घेर लेता है। इस प्रकार स्वयं ही स्वप्नाकार होकर आप अपने चारो ओर एक स्वाप्निक जगत्का विस्तार कर लेते हैं और उसमें लेने-देने हँसने-रोने आदि का व्यवहार करने लगते हैं। बस, यही है आप के सुषुप्त चित्त के विस्तार की अनुभवगम्य प्रक्रिया, जिस पर से विश्वगत इस सृष्टि-विस्तार की प्रक्रिया का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

जिस प्रकार व्यक्ति अहंता रूप अपने चित्त को केन्द्र बनाकर स्वयं उसके चारों ओर वैकल्पिक अथवा स्वाप्निक सृष्टि का विस्तार करता रहता है और पुनः-पुनः उसको स्वयं अपने में ही लीन करता रहता है; अथवा जिस प्रकार मकड़ी स्वयं अपने ही भीतर से तारों का जाल पूर-पूर कर पुनः-पुनः उसे निगलती रहती है, उसी प्रकार ईश्वर नामक तत्त्व भी अहंतारूप अपने चित्त को केन्द्र बनाकर उसके चारों ओर वैकल्पिक अथवा स्वाप्निक सृष्टि का विस्तार करता रहता है, और पुनः-पुनः उसे अपने में ही लीन करता रहता है।

इसी का पूज्यपाद कवियों ने अपनी आलंकारिक भाषा में इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

"उसने ईक्षण किया कि मै एक हूँ। उसने सोचा कि मै बहुत हो जाऊं। उसने तप किया और वह बहुत हो गया"। यहाँ ईक्षण करना तो उसकी तूष्णी अथवा सुषुप्ति अवस्था का भंग होना है। 'मै एक हूँ' यह विकल्प उसमें अहंता का अथवा प्रकृति नामक उसकी चित्-शक्ति का सहसा जागृत हो जाना है। 'मैं बहुत हो जाऊँ' यह उसकी अन्तर्मुखी शान्त चेतनामें सहसा 'अहंता' का उदित होना है। 'उसने तप किया' यह उस अहंता का विकल्पों के प्रति झुकाव होना है। यही भगवान् का वह प्रयत्न है, जिसके द्वारा वे अपने में वैकल्पिक जगत् बसाने के प्रति उन्मुख होते हैं। 'वह बहुत हो गया' यह उसके उस सृष्टि नामक विस्तार के प्रति संकेत करता है, जो कि वैकल्पिक 'इदंता' के

रूप मे उदित होकर उस अहता की परिक्रमा करती है। यह 'इदता' ही मानसिक विकल्पो की भाति विविधाकार होने के कारण भगवान् के मनमे दृष्ट सृष्टि-विस्तार है।

पौराणिक ऋषि अपनी प्रतीकात्मक भाषा मे इसी भाव को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'भगवान् विष्णु क्षीर-सागर मे शेष शय्या पर विश्राम करते थे। माता लक्ष्मी उनकी सेवा मे सलग्न थी। उनकी नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ और उस पर प्रकट होकर चतुर्मुख पितामह ब्रह्मा मानसिक सृष्टि का विस्तार करने लगे।' यहाँ भगवान् विष्णु तो ईश्वर नामक उसी महातत्त्व का प्रतीक है। माता लक्ष्मी प्रकृति-नामक उनकी प्रधान चिच्छक्ति है, जिसके क्रियोन्मुख हुए बिना उसमे स्पन्द उत्पन्न होना सम्भव नही। क्षीर सागर समष्टिगत सकल चिज्जड वर्ग के द्वारा सचित अनादिगत वह सस्कार-राशि है जिसके अनुसार कि उस तत्त्व मे विकल्प अथवा स्वप्न उदित होते हैं। शेष नाग सृष्टि के उस अनन्त विस्तार की ओर सकेत करता रहता है, जो इन सस्कारो के रूप मे उसकी अन्तर चेतना Subconscious मे प्रस्तुत पडा है। विश्राम उस तत्त्व की स्थिर अथवा तूष्णी अवस्था का द्योतक है। नाभि-कमल उसमे स्फुरित होनेवाली आद्य अहता है, जो कि सृष्टि-विस्तार की मूल-भूमि या आधार है। चतुर्मुख ब्रह्मा उसकी सृष्टि प्रसारक विकल्पन-शक्ति है, जो कि उस अहंता को केन्द्र बनाकर उसके चारो ओर अनन्त वैकल्पिक अथवा स्वाप्निक सृष्टि का पुन पुन, विस्तार करती रहती है। इस प्रकार ग्रन्थो मे अन्यान्य विविध उत्प्रेक्षाएँ इस विषय मे की गयी हैं, जिनका सकेत वैकल्पिक विस्तार के प्रति है, किसी सत्ताभूत का निर्माण करने के प्रति नही।

४ जगन्मिथ्यात्व

यह निश्चित हो जाने पर कि यह सकल चराचर प्रपच, जिसमे मैं तथा आप भी सम्मिलित हैं, ईश्वर नामक तत्त्व मे स्फुरित होनेवाले विकल्प अथवा स्वप्न से अधिक कुछ नही हैं, जगत्-मिथ्यात्व के विषय में भी कोई शका शेष नही रह जाती, क्योकि विकल्प अथवा स्वप्न सत्यवत् प्रतिभासित होते हुए भी परमार्थत सत्य नही होते। इस जगत् में होनेवाली सत्यत्व की प्रतीति भी परमार्थत वैसी ही है, जैसी कि स्वप्न जगत् में होनेवाली सत्यत्व की प्रतीति।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था मे एक ही मन विश्व रूप हो जाता है, उसी प्रकार सृष्टिकालीन स्पन्द दशा मे एक ही ईश्वर अनन्त रूप हो जाता है। जिस प्रकार जग जाने पर वह स्वप्न विश्व मन मे ही लय हो जाता है, उसी

प्रकार प्रलयकालीन शान्त दशा में यह अखिल विश्व भी ईश्वर में ही लय हो जाता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में विविध स्वाप्निक पदार्थ पृथक्-पृथक् सत्तायुक्त-से हुए प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार सृष्टि-अवस्था में ये सब पदार्थ पृथक्-पृथक् सत्ता-युक्त से हुए प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में वे सब परस्पर में व्यवहार करते तथा दुःख-सुख का वेदन करते हुए भी हैं मन-रूप ही, उससे भिन्न कुछ नही; उसी प्रकार सृष्टि-अवस्था में ये सब परस्पर में व्यवहार करते तथा दुःख-सुख का वेदन करते हुए भी हैं ईश्वर-रूप ही, ईश्वर से भिन्न कुछ नही। जिस प्रकार हमारे तुम्हारे सब के विकल्पों अथवा स्वप्नों में बसा हुआ चराचर विस्तार सत्ताहीन होने के कारण मिथ्या है, उसी प्रकार ईश्वर नामक उस महातत्त्व के विकल्पों अथवा स्वप्नों में बसा हुआ यह दृष्ट-विस्तार भी सत्ताहीन होने के कारण मिथ्या है।

अन्तर केवल इतना है कि मेरे तथा तुम्हारे सहित यह दृष्ट जगत् तो ईश्वर का विकल्प या स्वप्न है, और मेरे तथा तुम्हारे विकल्पों अथवा स्वप्नो में उदित जगत् उस स्वप्न में द्वितीय स्वप्न है। स्वप्न में स्फुरित स्वयं मेरी आकृति स्वाप्निक रात्रि में पलंग पर लेट जाती है और निद्रा के वश होकर स्वप्न में पुनः पहले की भाँति अपनी आकृति को देखने लगती है। इस प्रकार तीन स्वप्न हुए—प्रथम तो उस ईश्वर का स्वप्न अर्थात् मेरे तुम्हारे सहित यह दृष्ट प्रपञ्च; द्वितीय स्वप्न उस स्वप्न अर्थात् मेरे और तुम्हारे द्वारा स्वप्न में देखी जानेवाली अपनी आकृति, और तृतीय स्वप्न इस द्वितीय स्वप्न में अर्थात् हमारी उन स्वाप्निक आकृतियों के द्वारा अपने स्वप्न में देखी जानेवाली अपनी आकृतियाँ।

जिस प्रकार द्वितीय स्वप्नवाली मेरी स्वाप्निक आकृति जाग जाने के कारण तृतीय स्वप्नवाली अपनी स्वाप्निक आकृति को मिथ्या जान लेने पर भी यह नही जान पाती कि मै तथा मेरे समक्ष विद्यमान यह स्वप्न-जगत् मिथ्या है, उसी प्रकार प्रथम स्वप्नवाली यह मेरी दृष्ट आकृति भी जाग जाने के कारण यह तो जान लेती है कि द्वितीय स्वप्नवाली मेरी स्वाप्निक आकृति तथा उसके समक्ष विद्यमान जगत्-मिथ्या था, परन्तु यह नही जान पाती कि मैं भी वास्तव में ईश्वर का स्वप्न होने के कारण मिथ्या हूँ। जिस प्रकार आँख खुल जाने पर ही यह पता चलता है, उससे पहले नही कि अब तक जो सत्य रूप दिखता था, वह वास्तव में मिथ्या था, इसी प्रकार तृतीय नेत्र खुल जाने पर ही यह पता चलता है, इससे पहले नहीं कि जिस दृष्ट जगत् को मैं अब तक सत्य समझता रहा, वह वास्तव में मिथ्या था।

इस प्रकार जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या देखनेवाला कौन ऐसा ज्ञानी होगा जो कि इसके प्रति लालायित हो ? गगन नगर में बसने की इच्छा कौन करता है, और स्वप्न-जगत् की खोज में कौन भटकता है ? अपनी सत्ता को और विश्व की सत्ता को असत्य समझ लेने पर ज्ञानी के हृदय में न तो उदित होती है विषयों की चाह, और न उनके अर्जन तथा रक्षण का भाव। भीतर तथा बाहर सर्वत्र एक तात्त्विक स्पन्द का दर्शन करनेवाले को न रह जाती है आवश्यकता किसी के प्रति आशा भरी दृष्टि से लखने की, न रह जाती है आवश्यकता किसी बात से मोहित होने की और नहीं रह जाती है आवश्यकता किसी बात पर आश्चर्य करने की। न उसे कुछ रह जाती है सुख की चाह और न रह जाता है कुछ दुःख का भय। रह जाता है केवल एक साक्षी भाव, जिसके द्वारा वह दर्शन करता है इस अखिल विस्तार में ईश्वर के सुन्दर विलास का तथा उसके सर्वांग सुन्दर शरीर का, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार गगन नगर को देखने पर आप मोहित होने के बजाय केवल उसे देख देखकर प्रसन्न ही होते हैं।

इस अवस्था में उदित हो जाता है उसके हृदय में एक सहज तथा स्थायी वैराग्य, जिसके कारण विषयों की तृष्णा छोड़कर वह लालायित हो उठता है अपने सत्य साम्राज्य को पाने के लिए। गुरु-चरण-शरण को प्राप्त करके वह बराबर बढ़ता जाता है अपने लक्ष्य की ओर और एक दिन समाकर उसमें घुमा धन जाता है वह। मुमुक्षुओं को प्रभु की यह अहैतुकी कृपा प्राप्त हो, इस उद्देश्य से यही परम हितैषी गुरुओं ने अत्यन्त करुणापूर्वक जगद्-मिथ्यात्व दर्शाने का यह कष्ट साध्य उपक्रम किया है, अज्ञानी जनों को भ्रान्त करने के लिए नहीं।

२५ प्रलय नहीं, प्यार

अहंता तथा इदंता के संयोगरूप से यह अखिल दृष्ट विस्तार चूंकि ईश्वर का स्वप्न है, अन्य कुछ नहीं, इसलिए इसके प्रति स्थायित्व की आशा करना दुराशा है। जिस प्रकार हमारा स्वप्न कुछ काल पर्यन्त अपना विलास दर्शा कर हमारे मन में ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर का यह स्वप्न भी जिसमें कि मैं तथा हम सब सम्मिलित हैं, (कुछ) काल पर्यन्त अपना

विलास दर्शा कर ईश्वर के मन में ही विलीन हो जाता है। यद्यपि हमारे स्वप्न की अपेक्षा ईश्वर के स्वप्न का देश तथा काल असंख्यात गुणा है, तदपि इसका भी विलय हो जाना स्वाभाविक है। जिस प्रकार कुछ काल पर्यन्त स्वप्न-रहित सुषुप्त दशा में लीन रहने के उपरान्त हमारे मन में पुनः दूसरा स्वप्न जगत् वस जाता है, उसी प्रकार कुछ काल पर्यन्त स्वप्नरहित सुषुप्त दशा में लीन रहने के उपरान्त ईश्वर के मन में भी पुनः दूसरा स्वप्न जगत् वस जाता है। स्वप्न का उदय जगत् की 'सृष्टि' है और उसका विलय 'प्रलय' कहलाती है।

सृष्टि तथा प्रलय का यह क्रम अनादि काल से यो ही चलता आया है और सदा यों ही चलता रहेगा। न तो वीज-वृक्ष न्याय के अनुसार समष्टि के वक्ष पर नित्य प्रवाहित संस्कार-राशि की धारा कभी रुकेगी और न ही इस क्रम का कभी अन्त आयेगा। इस प्रकार सृष्टि की भाँति प्रलय भी यद्यपि स्वाभाविक है, तदपि अपनी क्षुद्र सत्ता को सत्य मान वैठने के कारण हमे सृष्टि तो व्यक्ति के जन्म की भाँति इष्ट है, परन्तु प्रलय मृत्यु की भाँति अत्यन्त अनिष्ट है। क्या ही अच्छा होता कि हम इसे नाश के रूप में न देखकर ईश्वर के प्यार के रूप में देखते, क्योंकि जिस प्रकार माता अपने शिशु को अपने आँचल में छिपा कर सुला लेती है, उसी प्रकार ईश्वर भी इस अखिल विस्तार को शिशु की भाँति अपने अंचल में छिपा कर सुला लेता है। जिस प्रकार माँ का यह उपक्रम शिशु के प्रति उसके प्यार का द्योतक है, उसी प्रकार ईश्वर का यह उपक्रम भी इस जगत् के प्रति उसके प्यार का द्योतक है, क्रोध का नही।

परन्तु तृतीय नेत्र मुँदा होने के कारण हम इसे प्यार के रूप में न देख कर नाश, मृत्यु अथवा संहार के रूप में देखते हैं और भय के मारे थर-थर काँपते हुए मन ही मन ऐसा सोचते रहते हैं कि देखो किस प्रकार खाये जा रहा है यह सवको, किस प्रकार पीसे जा रहा है यह सवको, किस प्रकार चवाये जा रहा है यह सवको।

क्या सूर्य आदि महास्कन्ध और क्या परमाणु, क्या चेतन और क्या जड़, क्या मनुष्य और क्या कीट, क्या संन्यासी और क्या गृहस्थ, सभी मरे जा रहे हैं, सभी नष्ट हुए जा रहे हैं, सभी प्रलय की गोद में सोये जा रहे हैं, जाकर कोई भी वापस नही आ रहा है। न जाने कहाँ तथा किसमें सोये जा रहे हैं वे सव! देखने की तो वात ही क्या, हृदय दहल उठता है इसका नाम सुनकर ही। अरे, दूर रह मुझसे, किसी और को वना जाकर अपना शिकार, कृपाकर वख्श दे मुझे।

अहकार ग्रस्त अज्ञजन ही भय खाकर इस प्रकार प्रलाप करते हैं। तत्त्व-निष्ठ ज्ञानीजन तो देखते हैं सवत्र उसका सौन्दय और लेते हैं रस उसकी सभी लीलाओ मे। मृत्यु नही, माता है यह। जिस प्रकार दिन के श्रम से थके हुए अपने बच्चो को माता सुला देती है, नये उत्साह के साथ पुन अगले दिन उठाकर काम कराने के लिए, उसी प्रकार जीवन के सघर्षों मे दुखी हुए व्यक्ति को सुला देती है यह मृत्यु माता अपनी प्यार भरी गोद मे, नयी उमग के साथ पुन दूसरे जीवन मे प्रवेश कराने के लिए।

शत्रु नही मित्र है यह। जिस प्रकार कोई सुहृदय मित्र अपने किसी निधन मित्र के पुराने वस्त्र उतरवा कर उसे नये वस्त्र पहना देता है और इससे वह निधन प्रसन्न ही होता है, रुष्ट नही, उसी प्रकार बुढापे के पुराने तथा जर्जरित शरीर को लेकर यह मित्र उसे नया शरीर दे देता है। इसीलिए व्यक्ति को इससे प्रसन्न होना चाहिए, रुष्ट नही। भय खाने की कौन-सी बात है इसमे? क्या बालक से युवा होने मे आपको भय लगता है? फिर युवा से वृद्ध अथवा वृद्ध से पुन बालक होने मे भय की कौन बात है?

क्या इसीलिए कि मरने के पश्चात् हमारा व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है? यदि ऐसा ही है तो हर अवस्था मे आपको डरते रहना चाहिए, क्योंकि हर नयी अवस्था मे आपके पुराने व्यक्तित्व का नाश हो जाता है। बालक वाला व्यक्तित्व नष्ट होकर युवावाला व्यक्तित्व उत्पन्न हो गया। युवावाला नष्ट होकर बुढ़ापेवाला उत्पन्न हो गया। इसी प्रकार बुढापेवाला व्यक्तित्व नष्ट होने पर पुन बालकवाला व्यक्तित्व उत्पन्न हो जायेगा। इसमे भय की कौन बात है?

क्या इसलिए कि मृत्यु के पश्चात् आपको यह भान नही रहता कि आप वही हैं जो कि पहले वृद्ध थे, जिस प्रकार कि बालक से युवा और युवा से वृद्ध होने पर आपको रहता है? यदि ऐसा ही है तो अपने अज्ञान को ही कोसिये, इस प्रेममयी माता का इसमे क्या दोष? आप की स्मृतियाँ नष्ट करके वह तो आपका उपकार ही करती है, क्योंकि एक भव की द्वन्द्वात्मक स्मृतियाँ ही जब आप की बुद्धि को भारी और मन को चिंतित करके आप का जीवन दूभर कर देती हैं, तो आप ही सोचिये कि यदि अनन्त भवों की स्मृतियाँ जीवित रही होती तो क्या एक क्षण को भी आप जीवन धारण कर पाते?

क्या इसलिए कि जन्म की भाँति आपको मृत्यु अच्छी नही लगती? यदि ऐसा है तो आप की भूल है, क्योंकि आप ही सोचिये कि यदि जन्म ही जन्म होता रहता मृत्यु बिल्कुल न होती, तो क्या होता? पृथिवी पर पाँव

रखने को भी स्थान न मिलता। आप ही बताइये कि तब किस प्रकार नव-जीवन धारण कर पाते आप ? अतः जन्म जिस प्रकार आप का उपकार करता है, उसी प्रकार मृत्यु भी आप का उपकार ही करती है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से देखने पर तो मृत्यु तथा नाश नाम की वस्तु ही क्या है ? क्या कोई भी सत्ताभूत वस्तु कभी नाश होती है ? कड़े कुण्डल के नाश से क्या कभी स्वर्ण का नाश होता है ? बालक, युवा के नाश से क्या कभी व्यक्ति का नाश होता है ? अवस्थाएँ ही बदलती हैं, नयी से पुरानी और पुरानी से नयी। नाम रूप ही बदलते हैं।

नाम रूप का बदलना भी क्या, क्योकि वे वास्तव में हैं ही कहाँ ? क्या असत् का भी नाश होता है कभी ? वे तो स्पन्द सागर की तरंगें मात्र हैं जो उसमें से निकल कर उसी की गोद में लीन हो रही हैं। नाम रूपों का महातत्त्व की गहराई में डूब जाना, उसमें निमग्न हो जाना या खो जाना, उसमें लीन हो जाना ही है 'प्रलय' शब्द का वाच्य अर्थ। अतः प्रलय नहीं, प्यार है यह, जो आत्मसात् किये जा रहा है अपनी समस्त सृष्टि को।

२६. काल महाकाल

काल, महाकाल, स्पन्द का महासागर। भयभीत होने की नहीं, रस लेने की बात है यह, भयंकर नहीं सुन्दर है यह। विचार कर देखिये कि मृत्यु पहले कहाँ थी ? भले दिखाई न दे, पर जन्म में ही निहित थी। जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म, उसी प्रकार जिस प्रकार कि दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, एक नही तो दूसरा भी नही। रात्रि नही तो दिन भी नही, और दिन नहीं तो रात्रि भी नहीं। रात्रि होती है दिन के लिए और दिन होता है रात्रि के लिए। इसी प्रकार जन्म न हो तो मृत्यु भी न हो और मृत्यु न हो तो जन्म भी न हो। जन्म में ही मृत्यु और मृत्यु में ही जन्म है। जन्म होता है मृत्यु के लिए और मृत्यु होती है जन्म के लिए। वास्तव में देखा जाय तो यहाँ न मृत्यु है न जन्म, है मात्र स्पन्दन।

ये अनन्त व्यष्टियाँ स्पन्द सागर के गर्भ मे छिपी पडी थी, वही लीन थीं, वही अन्तमग्न थी। उसमे से ही आयी और पुन उसी में चली गयी। पुन उसमे से प्रकट हुई और उसी मे छिप गयी। पुन उसी मे से उत्पन्न हुई और उसी म निमग्न हो गयी, उसी मे लीन हो गयी, उसी मे खो गयी।

सागर की तरगो की भाँति उन्मज्जन तथा निमज्जन है यह, आविर्भाव तथा तिरोभाव है यह, उन्मग्नता तथा निमग्नता है यह। इसका नाम है सृष्टि-प्रलय, न कि जन्म मृत्यु या उत्पत्ति विनाश। यही है काल चक्र, महाकाल किसी के द्वारा कृत नही है यह, स्पन्द का स्वभाव है यह, स्वत सिद्ध है यह। न है आदि इसका, न है अन्त। सदा से चला आ रहा है और सदा चलता रहेगा। 'पहले सृष्टि अथवा पहले प्रलय' यह पूछना अज्ञता का द्योतक है, क्योंकि 'बीज पहले या वृक्ष', इसका क्या उत्तर दे सकता है कोई?

मृत्यु के रूप मे देखने के कारण अज्ञानी जन ही भय खाते हैं इससे और काँपते हुए कहते हैं इसे भयकर काली, जिसके एक हाथ मे है खड्ग और दूसरे मे रक्त-टपकता नरमुण्ड, आँखो से बरस रही है अग्नि जिसके, मुख मे जिह्वा लपलपा रही है जिसके। गले से शोभित है मुण्डमाला जिसके और मेखला मे लपेटी है कटे हुए हाथो की झालर जिसने। पर ज्ञानीजन कहते हैं उसे कल्याणकारिणी माँ, जो लय करके जगत् को अपने मे, कर देती है उसे मुक्त।

अज्ञानीजन ही कहते हैं उसे श्मशानवासी भयकर भैरव, परन्तु ज्ञानीजन तो कहते हैं उसे नटराज और दर्शन करते हैं उसके इस सृष्टि प्रलय रूप विलास मे एक मनमोहक ताण्डव नृत्य का। नाच रहा है वह एक शव के वक्ष पर, अपने डमरू की धाराबाही ताल पर, पद विक्षेप करता हुआ, और अपने अनेक हाथों को बडे कलापूर्ण ढग से फैलाकर सृष्टि के कोने-कोने का स्पर्श करता हुआ। अज्ञानी जन समझते हैं इसे रौद्र, परन्तु ज्ञानीजन जानते हैं इस दैहिक तथा मानसिक सकल रागो को शान्त कर देनेवाले भगवान् रुद्र, अथवा कहते हैं इन्हें शिव, शकर, तथा शम्भू। स्वय कल्याणस्वरूप अथवा शान्त-स्वरूप होने से 'शिव', सबको अपने इस शान्तस्वरूप में लीन कर लेने के कारण 'शकर', और बिना किसी की सहायता के स्वय अपने इस कल्याणमय स्वरूप में स्थित रहने के कारण 'शम्भू'।

अथवा देखते हैं वे उसे महाकाल के रूप में, सहस्रों हैं मुख जिसके और सहस्रों हैं हाथ जिसके। समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं जिसने। न उसका

आदि है, न मध्य न अंत, न दीखता है उसका ओर-छोर। किसी मुख में जिह्वा लपलपा रही है और किसी में ज्वाला धधक रही है। एक मुख से निकली आ रही है यह चराचर सृष्टि और दूसरे में स्वयं कूद कूदकर नष्ट हुई जा रही हैं ये अनन्त व्यष्टियाँ। किसी को अपने हाथों में पकड़कर पीस देता है वह, किसी को निगल जाता है वह और किसी को चबा डालता है वह। सब कुछ, उसी में से निकला आ रहा है और स्वयं उसी में चला जा रहा है। विराट् स्पन्द सागर का यह कलाकृत रूप, काल, महाकाल।

'कालोऽस्मि लोकक्षयकृतप्रवृद्धो-
लोका-समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे,
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥' (गीता, ११-३१)

"हे अर्जुन ! मैं लोगों का नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ और इस समय तुम लोगों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए बिना तेरे युद्ध किये भी ये सब योद्धागण जीवित नहीं बचेंगे।"

३

मेरे प्रभु

ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

'चिति शक्ति-युक्त ईश्वर-तत्त्व पूर्ण है, और उसकी यह सृष्टि भी पूर्ण है। कारण में से पूर्ण ही कार्य का उदय हुआ है। अनादि काल से आज तक ऐसी अनन्त सृष्टियाँ इसमें से निकल चुकी हैं, और आगे भी इसी प्रकार निकलती रहेंगी। परन्तु यह महाप्रभु पूर्ण थे, पूर्ण हैं और पूर्ण ही रहेंगे।"

के सकल ऊर्ध्व तथा तिर्यक् विस्तार में अनुगत यह महातत्त्व स्वतःसिद्ध तथा अहेतुक है, एक है, अखण्ड है, व्यापक है, निराकार है, नित्य है तथा एक स्वभावी है; इसलिए सत्य है।

जिस प्रकार अपने में से ये अनन्त तरंगें उत्पन्न करके सागर में कुछ कमी नही पड़ी है, वह अब भी पूर्ण है तथा इससे अनन्त गुणी तरंगें उत्पन्न कर लेने पर भी वह पूर्ण का पूर्ण ही रहेगा; उसी प्रकार अपने से यह अनन्त सृष्टि उत्पन्न करके उस तत्त्व में कुछ कमी नहीं पड़ी है, वह अब भी पूर्ण ही है तथा इससे अनन्त गुणी सृष्टि उत्पन्न कर देने पर भी वह पूर्ण का पूर्ण रहेगा। यह तत्त्व है इस सृष्टि का उपादान कारण और यह सृष्टि है उसकी एक क्षुद्र स्फुरणा, उसके विविध आकार-प्रकार वाले स्पन्द, अथवा उसके विविध नाम तथा कर्म।

पूर्ण है वह और पूर्ण होने के कारण भूमा, जिसमें डूब जाते हैं समस्त भेद—द्रव्यगत, क्षेत्रगत, कालगत तथा भावगत। वह इन समस्त भेदों से अतीत है, इनसे अस्पष्ट है, तथा अबद्ध है। भेदों में एक दूसरे के अभाव की प्रतीति स्वाभाविक है, जैसे कि घट घट ही होता है, पट नही। घट में पट की प्रतीति का अभाव है और पट में घट की प्रतीति का। जहाँ अभाव है वहाँ पूर्णता कैसी ? अतः पूर्ण सदा एक हो सकता है, दो नहीं।

जिस प्रकार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदिक आभ्यंतर जगत् के भेद उपरितलवर्ती कार्यों में हैं, उसमें अनुगत अहं-प्रत्यय-स्वरूप जीवात्मा मे नही, इसी प्रकार पृथिवी अप तेज आदिक बाह्य जगत् का जातिगत भेद भी उपरितलवर्ती कार्यों में ही हैं, उनके कारणभूत परमाणुओं में नहीं। अतः भेद सदा कार्यों में होता है, उनमें अनुगत कारण में नही।

मै तू आदि के सम्पूर्ण द्रव्यगत भेद निरस्त हो जाते हैं वहाँ जहाँ मैं नही, वहाँ तू कैसा ? दोनों परस्पर सापेक्ष्य हैं। अपने स्वरूप में परस्पर एक दूसरे के अभाव की प्रतीति करने वाले समस्त जीवात्मा तथा अनन्त परमाणु भी कैसे टिक सकते है यहाँ ? सब उस महासत्ता में लीन होकर खो देते हैं अपना अपना स्वतंत्र अस्तित्व।

(९)

बाल युवा आदिक अवस्थान्तरवर्ती भेदों की भाँति नारक तिर्यञ्च देव मनुष्यादिक भवान्तरवर्ती भेद अनित्य होने के कारण अल्प हैं, और इन सब भेदो में अनुगत एक तथा नित्य जीवात्मा पूर्ण है, उसी प्रकार इस अखिल सृष्टि के अब तब उदित होनेवाले सम्पूर्ण कालान्तरवर्ती भेद भी अल्प तथा अपूर्ण

हैं और उन सब में अनुगत वह एक तथा अखण्ड तत्त्व पूर्ण है, कालान्तरवर्ती ऊर्ध्व विस्तार अस्त हो जाता है जहाँ।

यद्यपि अनन्त परमाणु पुज तथा अनन्त जीवात्मा इस पूर्णता के सिंहासन पर आसीन से प्रतीत होने लगते हैं, परन्तु विचार कर देखने पर, यहाँ तहाँ वहा पृथक पृथक बिखरे पडे होने के कारण वे भी तरंगो की भाति अल्प हैं। तरंगो मे अनुगत सागर के जल की भाति उस सब मे अनुगत यह तत्त्व ही पूर्ण है, कालगत ऊर्ध्व विस्तार की भाँति क्षेत्रगत तिर्यक् विस्तार भी अस्त हो जाता है जहाँ।

ऐसा वैसा जैसा आदि रूप सम्पूर्ण भावगत भेद भी परस्पर सापेक्ष होने के कारण तथा एक दूसरे में एक दूसरे का अभाव देखने के कारण अल्प हैं। इन सब भावगत भेदो मे अनुगत वह तत्त्व ही पूर्ण है, जड-चेतन का भेद भी निरस्त हो जाता है जहाँ। जड जगत् के रूप मे रसादि गुण तथा चेतन जगत् के ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, दु ख-सुख आदि भाव भी हैं सब उसी की विविध अभिव्यक्तियाँ।

इस प्रकार भूमा होने के कारण वह एक है, अखण्ड है, व्यापक है, निराकार है, नित्य है, सर्वस्व है, तथा सर्वशक्तिमान है।

विविध द्रव्यो मे जातिगत तथा व्यक्तिगत भेद होने के कारण ये अनन्त हैं, परन्तु माला के मोतियो मे डोरे की भाति उन सब म अनुगत होने के कारण वह एक है। जहाँ-तहाँ बिखरे होने के कारण वे सब द्रव्य खण्ड-खण्ड हैं, परन्तु उनके सम्पूर्ण क्षेत्र भेदो मे अनुगत होने के कारण वह अखण्ड है। अपने-अपने क्षेत्र की सीमाओ में बद्ध होने के कारण वे साकार हैं तथा अव्यापक हैं, परन्तु आकाशवत् उन सबके आकारो में अनुगत होने के कारण वह निराकार है तथा व्यापक है। वे पदार्थ तथा उनके समस्त कालगत पर्याय उत्पन्न ध्वंसी होने के कारण अनित्य हैं, परन्तु कडा कुण्डल आदि पर्यायों म अनुगत स्वर्ण की भाँति इन सब नाम-रूपो मे अनुगत होने के कारण वह नित्य है। रूप, रसादि गुण तथा ज्ञान, इच्छा आदि भाव इन सब म विविध तरतमताएँ रहने के कारण वे किसी की अभिव्यक्तियाँ हैं, परन्तु उन सब मे अनुगत उस तत्त्व की प्रधान शक्ति उन सब का सर्वस्व है। वे सब अपनी अपनी सीमाओ में बद्ध होने के कारण केवल अपनी अपनी ही जाति विषयक कुछ कार्य करने के लिए समर्थ हैं, परन्तु सर्व सीमाओ से अतीत वह सर्वशक्तिमान् सब कुछ करने के लिए समर्थ है, जड-कार्य करने के लिए भी और चेतन-कार्य करने

के लिए भी। उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं। जो है अथवा जो नहीं है, वह सब पड़ा है उसके गर्भ में।

कोई दो हाथ-पांववाला विराट्-काय अतिमानव न समझ लेना उसे, वह एक तत्त्व है, सच्चिदानन्द मात्र जिसका स्वरूप है। समस्त ज्ञेयो में अनुगत होने के कारण ज्ञान-स्वरूप जीवात्मा को जिस प्रकार त्रिलोक-स्वरूप तथा उससे अतीत अलोक-स्वरूप भी माना गया है, उसी प्रकार मेरा यह सच्चिदानन्द तत्त्व क्या समस्त विश्व-स्वरूप और उससे अतीत द्युलोक-स्वरूप नहीं हो सकता? यह समस्त विश्व उसका केवल एक पाद है। उसके शेप तीन पाद द्युलोक में स्थित हैं। इसलिए वह महान्, भूमा है, विभु है। सत्, चित् और आनन्द नामवाले इसके तीनों प्रधान अंगो के सौन्दर्य का चित्रण आगे पृथक् से किया जा रहा है।

२८. सत्-दर्शन

अरे रे! कितना जटिल है इस सत्य का स्वरूप। बड़े-बड़े बुद्धिशाली भी उलझकर रह गये हैं इसकी विचित्र भूल-भुलैयां में। दूसरों को स्वर्ग दर्शाते-दर्शाते सम्प्रदाय के पक्ष में उलझकर हो गये है स्वयं 'पथभ्रष्ट। कौन समझ सकता है उसे विकल्पों के द्वारा, और कौन कह सकता है उसे शब्दों के द्वारा? दर्शनकार अनुभव करते हैं उसका अपनी भूमिका के अनुसार और प्रयत्न करने लगते हैं उस मन वाणी से अगोचर तत्त्व को शब्दो के द्वारा बताने का। परन्तु क्या कोई भी कह सकता है बालूशाही का स्वाद, शब्दो के द्वारा? फिर भी देखो इस अहंकार की हठ कि अन्तर उल्लास को न संभाल सकता हुआ, वाचाल हुआ जा रहा है यह, जिस किस प्रकार उसे बताने के लिए।

कोई उसे कहता है सत्य और कोई असत्य, कोई नित्य और कोई अनित्य, कोई एक और कोई अनेक, कोई चेतन और कोई अचेतन। कोई देखता है उसे क्रियाशील अथवा गतिशील, कोई कूटस्थ अथवा स्थिर, कोई अणु से भी अधिक सूक्ष्म, कोई आकाश से भी अधिक महान्, कोई अपने निकट से भी निकट, कोई दूर से भी दूर, कोई अपने भीतर हृदय-गुफा में और कोई अपने बाहर इस सम्पूर्ण विश्व में।

इत्यादि प्रकार के विविध द्वन्द्वाभासो में उलझी यह संकीर्ण बुद्धि भला कैसे कर सकेगी इनमें से किसी एक विकल्प की सत्यता का निर्णय ? वह है युगपत् सर्वरूप। प्रत्यक्ष द्रष्टा ऋषियो की तथा अनुभवी पण्डित जनों की चरण-रज ही है एकमात्र शरण इस विषय में। क्योकि, वे देखते हैं इस जटिल विरोध में अविरोध, और करते हैं इसका निर्वाह एक विचित्र ढग से, जिसके द्वारा इनके अतिरिक्त अन्य भी अनन्त विकल्पो का सग्रह करके, कर देते हैं उन सबका समर्पण उस भूमा के चरणो में। अपेक्षावाद, दृष्टिवाद, नयवाद, अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद के नाम से प्रसिद्ध है जैन न्याय की यह विचित्र पद्धति।

सत्य होता हुआ भी असत्य है वह और असत्य होते हुए भी सत्य। दृष्टि भेद के कारण ही वहाँ दिखाई देता है विरोध क्योकि नाम रूपो को ग्रहण करनेवाली बाह्य-दृष्टि से देखने पर वह असत्य ही है, सत्य नही और मौलिक सत्य को ग्रहण करनेवाली अन्तर्दृष्टि से देखने पर वह सत्य ही है, असत्य नही। परन्तु उभयग्राही व्यापक दृष्टि से देखने पर न वह अकेला असत्य ही है और न अकेला सत्य ही। तरगित सागर की भाति वह है युगपत्, दोनो, सत्य भी और असत्य भी। जिस प्रकार सागर विहीन तरग और तरग विहीन सागर कोरी कल्पना है, इसी प्रकार असत्य-विहीन सत्य और सत्य विहीन असत्य कोरी कल्पना है। अर्थात् सृष्टि के विस्तार विहीन सत्य-तत्त्व और सत्य-तत्त्व-विहीन सृष्टि का विस्तार एक असम्भव कल्पना है।

इसी प्रकार न है वह अकेला नित्य न अनित्य, न एक न अनेक, न चित् न अचित्, न गतिमान न स्थित, न सूक्ष्म न महान्, न निकट न दूर, न अन्दर न बाहर। एक दूसरे को पीछे हटाते हुए ये सभी विकल्प असत्य हैं और एक दूसरे को गले लगाते हुए ये सभी सत्य हैं। वह है युगपत् नित्यानित्य, एकानेक, चिदचित्। वह है युगवत् गतिमान तथा स्थित, सूक्ष्म तथा महान् निकट तथा दूर, भीतर तथा बाहर।

अरे ! यह क्या ? विकल्पो की निरर्थक जमनास्टिक के अतिरिक्त और क्या है यह सब सत्यासत्य, नित्यानित्य इत्यादि ? छोडिये इस समस्त वाग्विलास को, और खडे हो जाइये तटस्थ की भाँति अधर इस शून्य में, और देखिये स्थाणु की भाँति एकटक इसको—इसके अन्तस्तलवर्ती सत्त्व को और उसके ऊपर तलवर्ती सृष्टि-विलास को, युगपत् एक ही दृष्टि से।

सागर के ऊपरी तल पर दृष्टि जमाकर देखने से केवल तरगें ही तरगें दिखाई देती हैं, अन्तस्तलवर्ती अथाह सागर नही, इसी प्रकार उसकी भीतरी

गहनता पर लक्ष्य करके देखने से एकाकार शान्त सागर ही दिखाई देता है, उसकी तरंगें नहीं। परन्तु तटस्थ भाव से देखने पर दिखाई देता है अखण्ड सागर, तरंगों का विस्तार खेल रहा है जिसके वक्ष पर और स्पन्द छिपा है जिसके हृदय में। इसी प्रकार तटस्थ भाव से देखने पर सांगोपांग तत्त्व का महासागर ही दिखाई देता है, सृष्टि-विस्तार खेल रहा है जिसके वक्ष पर और स्पन्द छिपा है जिसके हृदय में।

तरंगों को देखने पर दिखती हैं सब परस्पर में लड़ती-भिड़ती, उत्पन्न होती तथा नष्ट होती, परन्तु तटस्थ भाव से देखने पर वह सब बनकर रह जाता है सागर का सौन्दर्य। इसी प्रकार तटस्थ भाव से देखने पर उत्पन्न-ध्वंसी यह अखिल सृष्टि-विस्तार बनकर रह जाता है उस भूमा तत्त्व का सौन्दर्य।

जिस प्रकार नगर की सड़कों पर घूमते हुए दिखाई देता है कही निर्माण कही संहार, कहीं जन्म कही मृत्यु, कही सुख कही दुःख, कही हास कही रुदन; परन्तु वायु यान में बैठकर आकाश से नीचे की ओर देखने पर न वहाँ दिखता है निर्माण न संहार, न जन्म न मृत्यु, न सुख न दुःख, न हास न रुदन। दिखाई देता है एक अखण्ड तथा सांगोपाग नगर, ये सकल द्वन्द्व बनकर रह गये हैं जिसका सौन्दर्य। इसी प्रकार व्यापक दृष्टि से देखने पर उपर्युक्त सकल द्वन्द्व बनकर रह जाते हैं तत्त्व का सुन्दर विलास, उसकी मधुर लीला, उसका कलापूर्ण नृत्य, उसका सरस हृदय।

ओह! कितना सुन्दर है सत् का यह मनमोहक रूप, मन तथा वाणी से परे, अचिन्त्य तथा अनिर्वचनीय। दर्शन ही है उसका यथार्थ ग्रहण और मौन ही है उसका यथार्थ प्रतिपादन।

२९. आनन्द दर्शन

इसी प्रकार वैकल्पिक स्पन्द जिसका हृदय है, यह सृष्टि जिसका विराट शरीर, और ज्ञान तथा क्रिया जिसकी दो अभिव्यक्तियाँ हैं, ऐसे 'चित्' का भी सांगोपांग दर्शन करने पर एक सुन्दर विलास तथा नृत्य ही दिखाई देता है। इसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। अब मेरे उपास्य सच्चिदानन्द स्वरूप इस भूमा के तृतीय अंग की भी संक्षिप्त-सी झलक देखिये। इसका यह तृतीय अग है—'आनन्द'। आनन्द भी वास्तव में स्पन्द ही है। बाह्य में नृत्य

और अन्तरग मे आल्हाद, ये दो उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं, और पदार्थों होनाधिक सुख उसकी क्षुद्र स्फुरणाएँ हैं। यहाँ भी पदार्थगत जड-चेतन भेद मात्र भ्रान्ति है, क्योंकि इन सभी मे आनन्द' किसी न किसी रूप से अपना परिचय दे रहा है किन्ही मे नृत्य रूप से और किन्ही मे आल्हाद अथवा सुख रूप से।

जड तथा चेतन सभी नाच रहे हैं इसके गर्भ मे मग्न-से हुए या लीनता की प्राप्ति के लिए। अतरिक्ष लोक के सौर-मण्डल मे सूर्य चन्द्र आदि, भूलोक के जड जगत् मे पाषाण आदिक के भीतर परमाणुपुज, जल तथा वायु के सागरों मे अनत भवर बुदबुद तथा तरगें, और चेतन-जगत् मे मनुष्यादि विविध प्राणी सभी नाच रहे हैं देखो किस प्रकार आनन्द-मग्न हुए, एक दूसरे के चारो ओर, कभी निकट आते और कभी दूर जाते मचलते, मचकते, ठटकते, मटकते, भटकते, इठलाते तथा गाते।

इसी प्रकार आभ्यन्तर जगत् मे भी मन के सकल्प-विकल्प, बुद्धि के तर्क वितर्क, अहकार के कर्तृत्वादि भाव, चित्त की वासनाएँ और उनके ऊपर तैरने वाली राग-द्वेषात्मक विविध कषाएँ,—सभी नाच रहे हैं एक-दूसरे की परिक्रमा करते हुए।

परमाणु आदि जड पदार्थ भले न कर पायें सवेदना इसके आल्हाद की, परन्तु नाच तो रहे ही हैं वे भी। हो सकता है कि संवेदना भी कर रहे हों, पर वह हमारी प्रतीति का विषय न बन पाया हो, इसलिए कि वे बेचारे अपनी लाचारी के कारण मुख से बोल्कर उसे अभिव्यक्त नही कर पाते। वृक्ष प्रत्यक्ष झूमते दिखाई देते हैं वर्षा अपनी रिमझिम द्वारा और नदियाँ अपनी कलकल ध्वनि द्वारा प्रत्यक्ष गाती सुनाई देती हैं, परन्तु क्या वे उसे मुख द्वारा अभिव्यक्त भी कर पाते हैं कभी ?

अथवा पाषाणादिक म प्रसुप्त पडी हुई यह सवेदना ही, वृक्ष कीट पतंग पशु पक्षी तथा मनुष्यादिक मे क्रम से विकास को प्राप्त होती हुई अधिकाधिक जागृत होती जाती है।

सभी हैं आनन्द की विविध अभिव्यक्तियाँ। प्रेम-परक मधुर भावों का तो कहना ही क्या, स्वार्थ-परक कटु भाव भी हैं उसी आनन्द की अभिव्यक्तियाँ, क्योंकि वे भी हैं वास्तव म प्रेम के ही सकीर्ण रूप। यद्यपि परस्पर विरोधी से दीखते हैं ये परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखो पर सब हैं वास्तव मे एक। अन्तर है केवल आनन्द के विकास मे।

गहनता उसु जगत् मे दुःख नाम की कोई भी वस्तु नही, हीन सुख का नाम ही दुःख है। अधिक प्रकाश की अपेक्षा हीन प्रकाश अंधकारवत् प्रतीत होता है। निविड़ अंधकार में भी कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य रहता है, जिसका अनुभव भले हम न कर पायें, परन्तु उल्लू तथा विलाव आदि को उसमें भी दिखाई देता है। इसी प्रकार दु.ख मे भी सुख अवश्य छिपा रहता है, जिसकी प्रतीति तव होती है जव दुःख और अधिक वढ़ जाता है।

स्वार्थपूर्ण राग-द्वेष, काम क्रोध लोभ आदि में भी किसी न किसी रूप में प्रेमपूर्ण वैराग्य, सवेग, क्षमा तथा शौचादि का वास अवश्य रहता है। संकीर्ण-प्रेम का नाम ही स्वार्थ है, संकीर्ण-क्षमाका नाम ही क्रोध है और संकीर्ण-औदार्य का नाम ही लोभ है। इस तथ्य का कुछ अधिक स्पष्टीकरण आगे प्रेम के प्रकरण में किया जानेवाला है।

ज्ञान-विकास क्रम में प्राप्त विविध भूमिकाओं के अनुसार आनन्द का लक्षण भी वदलता हुआ उत्तरोत्तर व्यापक होता जाता है। पहले पहलेवाले लक्षण आगे-आगेवालों में डूवकर असत्य होते रहते हैं। जो पहले अज्ञान-दशा में सुख प्रतीत होता था, वही आगे जाकर ज्ञान-दशा में दु.ख प्रतीत होने लगता है। अन्तिम भूमिका पर जाकर रह जाता है मात्र स्पन्दन। उसका विलास ही है सत्य-तत्त्व का परम आनन्द, समस्त पदार्थों में दृष्ट नृत्य तथा सुख आदिक हैं जिसकी क्षुद्र स्फुरणाएँ।

भूमा ही वास्तव में आनन्द है, क्योकि अल्प में सुख सम्भव नही, इसलिए कि अल्पता में अभाव की और अभाव में इच्छा की प्रतीति का होना अवश्यम्भावी है। इच्छा के सद्भाव में सुख इतना ही मनोरम है जितना कि आकाश-पुष्प सुन्दर है। फिर वह इच्छा किसी भी आकार-प्रकार की क्यों न हो, कितनी ही सूक्ष्म तथा अल्प क्यो न हो, इसका प्रश्न नही। भले वीतराग भाव के ऊपरी तल पर इच्छा प्रतीति सम्भव न हो, परन्तु वीज रूप से वहाँ भी उसका वने रहना वहुत सम्भव है। भले अपनी वीतरागता में कोई व्यक्ति तृप्ति का अनुभव कर रहा हो, परंतु क्या कभी विन्दु सागर में मिले विना चैन से वैठ सकता है? इसलिए भूमा वने विना आनन्द की पूर्णता संभव नही। भूमा वनने की भावना ही वीतरागी के हृदय में स्थित सूक्ष्म इच्छा है, जिसके कारण वह अभी पूर्ण नही हो पाया है। ०

३० मेरे प्रभु

अहा हा ! कितना सुन्दर है सच्चिदानन्द-स्वरूप यह महातत्त्व। यही तो हैं, मेरे प्रभु, मेरे तन मन धन जीवन मेरे सर्वस्व, मेरे प्राण, मेरे उपास्य, सबके हृदय, सबकी शरण। मुझे भी शरण प्रदान करें प्रभु, भव-सतप्त अपने इस छोटे से अबोध शिशु को। अपार है महिमा इनकी, मन वाणी तथा बुद्धि से परे, देश काल की सीमाओं से दूर। जितनी गायी जाय, थोडी है। बडे-बडे ज्ञानी लज्जित से होकर रह गये हैं मौन, पर देखो कीडे सरीखे मेरे इस अहकार की धृष्टता कि चला है प्रभु को स्तुति करने, चीटी चली है पर्वत को पीठपर उठाये आकाश मे उडने। थोडे को बहुत करके कहना स्तुति है, परन्तु बहुत को थोडा करके कहना भी क्या स्तुति नाम पा सकता है कभी ?

ज्ञान अपने से पृथक् इन विविध पदार्थों को विषय करके अपना ज्ञेय बना लेता है, प्रमाण अपने से पृथक् इन विविध पदार्थों को विषय करके अपना प्रमेय बना लेता है, दर्शन अपने से पृथक् इन विविध पदार्थों को विषय करके अपना दृश्य बना लेता है, परन्तु सर्व ज्ञानो में अनुगत मूल ज्ञान स्वरूप, सर्व प्रमाणो मे अनुगत मूल प्रमाण स्वरूप और सर्व दर्शनो मे अनुगत मूल दर्शन-स्वरूप आपसे पृथक् वह कौन सा ज्ञान है, कौन-सा प्रमाण है और कौन-सा दर्शन है, जो आपको विषय करके अपना ज्ञेय, प्रमेय अथवा दृश्य बना सके ? अज्ञेय अप्रमेय तथा अदृश्य आपको मैं कैसे जानूँ, कैसे पहचानूँ, कैसे देखूँ ? फिर भी चला हूँ मैं आपको जानने-पहचानने तथा देखने।

ज्ञानीजन ऐसा कहते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष से न सही, बौद्धिक ज्ञान से भी न सही, परन्तु अनुभव ज्ञान से तो आप अवश्य जाने ही जाते हैं। परन्तु क्या करूँ, यह बात भी मेरे गले उतरती प्रतीत नहीं होती। अनुभव शब्द का अर्थ है—अनु+भव अर्थात् स्वय उस रूप हो जाना। जो स्वयं आप रूप हो गया, वह भला आपसे पृथक् कुछ रह ही कहाँ गया, जो आपको अपना विषय बनाकर जान सके, पहचान सके तथा देख सके। क्या सागर मे घुल जाने के पश्चात् लवण खिल्य आपको आकर यह बता सकेगी कि सागर का स्वाद ऐसा है ! हद हो गयी निलज्जता की। क्षुद्र 'मैं' चला है आपकी लीला का बखान करने।

गहनता उस ८२, सच्चिदानन्द हैं आप—सत् चित् तथा आनन्द। कहने मात्र को ही तीन वास्तव में तो एक ही है। जो सत् है वही स्पन्द है और जो स्पन्द है वही चित् तथा आनन्द है। अतः आप हैं स्पन्द मात्र या सच्चिदानन्द-घन। दायें-वायें, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, भीतर-वाहर, सर्वत्र सच्चिदानन्द, सर्वतः सच्चिदानन्द। क्योंकि कोई दो हाथ-पाँववाले व्यक्ति थोड़े ही हैं आप! आप तो हैं तत्व, स्पन्द है जिसका स्वरूप।

कितना व्यापक है आपका स्वरूप—सबमें आप, सर्वत्र आप, सर्वदा आप, सर्वरूपेण आप; जड़ भी आप, चेतन भी आप, वाहर भी आप भीतर भी आप। आपके अतिरिक्त और है ही क्या यहाँ? आप हैं देशकालानवच्छिन्न तत्त्व। आप हैं 'एकं सत्यं अद्वितीयम्' 'शान्तं शिवं सुन्दरं'। आप हैं धाता-विधाता तथा हाता, कर्ता धर्ता तथा हर्ता, सर्व-समर्थ सर्व-शक्तिमान्। आप हैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश, रुद्र, शंकर, कृष्ण, राम। आप हैं अनन्त, शेष, काल, महाकाल। आप हैं स्वयम्भू, प्रभु, विभु, भूमा। आप हैं आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म। आप हैं ईश्वर, परमेश्वर, महेश्वर। आप हैं देव, महादेव, परमदेव। आप हैं सर्वज्ञ, सर्व-द्रष्टा, सर्व-साक्षी, सर्व-नियंता।

सर्वानुगत होने के कारण आप एक हैं, सत्ताभूत होने के कारण सत्य हैं, और आपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत् न होने के कारण आप अद्वितीय हैं। आप हैं शान्तं शिवं सुन्दरं। समस्त द्वन्द्वात्मक क्षोभ से अतीत। निस्तरंग तथा नीरंग होने से आप शान्त हैं। स्वयं कल्याण-स्वरूप होने से शिव और आनन्द-घन होने से सुन्दर हैं। आप श्यामसुन्दर है। अत्यन्त परोक्ष, अत्यन्त गुप्त तथा छिपे होने से आप श्याम हैं और आनन्दघन होने से सुन्दर।

सम्पूर्ण ज्ञानो मे अनुगत होने से आप सर्वज्ञ हैं, जगत् के जड़ चेतन सभी पदार्थों के तथा उनके विविध कार्यों के कर्ता, धर्ता हर्ता होने से आप सर्व-समर्थ है, सर्व-शक्तिमान् हैं। जगत् के सृष्टा होने से आप ब्रह्मा हैं, उसके धाता होने से तथा उसमें सर्वत्र व्याप्त होने से विष्णु है और अपने मे उसे लय कर लेने से आप महेश हैं। संहारक होने से रुद्र और कल्याण-स्वरूप होने से आप शंकर हैं। छिपे-छिपे रहने से आप कृष्ण हैं और विश्राम-धाम होने से आप राम हैं।

अपनी अनन्त लीलाओं के कारण आप अनन्त हैं, समस्त सृष्टि को अपने शीषपर धारण करनेवाले शेषनाग हैं। सृष्टि प्रलय के अनादि चक्र मे सर्वत्र अनगत रहने से आप काल हैं। सबको अपने में से उत्पन्न करके स्वयं भक्षण कर जानेवाले महाकाल हैं।

स्वय-सिद्ध होने से आप स्वयम्भू हैं, प्रकृष्ट होने से प्रभु, विशिष्ट सत्ता है। से विभु और व्यापक होने से आप भूमा हैं। समस्त जड चेतन पदार्थों के सार स्वरूप होने से आप उनकी निज आत्मा हैं और सकल जीवात्माओं की आत्मा होने से परमात्मा हैं। महान होने के कारण आप ब्रह्म हैं और महानतम होने परब्रह्म हैं। इस अखिल विस्तार के सृष्टा तथा स्वामी होने के कारण आप ईश्वर हैं। सबको अपने अधीन रखते हुए भी स्वय किसी के अधीन नही हैं, इसलिए परमेश्वर हैं। सब ईश्वरो के भी ईश्वर होने से आप महेश्वर हैं। नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि जो लौकिक ईश्वर हैं, वे मात्र आपकी क्षुद्र स्फुरणाएँ हैं। दिव्य होने से आप देव हैं। समस्त देवो के भी देव होने से आप महादेव हैं, परम देव हैं।

त्रिलोकगत तथा त्रिकालगत सकल बाह्याभ्यन्तर भावों को प्रत्यक्ष जानने तथा देखने के कारण आप 'सर्वज्ञ' हैं तथा 'सर्वद्रष्टा' हैं। सबके हृदय की एक-एक बात का तथा एक-एक क्रिया का नित्य अवलोकन करते रहने के कारण आप 'सर्वसाक्षी' हैं। हृदय मे बैठकर सबके जीवन की डोर हिलाते रहने के कारण आप 'सर्वनियन्ता' हैं, 'अन्तर्यामी' हैं। सम्भव तथा असम्भव सब कुछ करने के लिए समय होने से आप 'सर्वशक्तिमान' हैं।

आप यद्यपि अनुपमेय हैं, तथापि स्तुत्यर्थ इस जगत् के तुच्छ पदार्थों को आपकी उपमा बनाने के लिए जी मचल रहा है। क्या लोग सूर्य को दीपक से आरती नही उतारते और गगाजी को जल अर्पण नही करते ? अत्यन्त तेज-पुज होने से आप सूर्य हैं, व्यापक तथा शून्य होने से आकाश हैं, प्राणो के भी प्राण होने से तथा निर्लेप होने से वायु हैं, शक्तिमान होने से अग्नि हैं, तरगित होने से जल अथवा सागर हैं और सृष्टि रूप मे घनाकार हो जाने से आप पृथिवी हैं। एक से अनेक हो जाने के कारण अश्वत्थ वृक्ष हैं, और मधुर मुस्कान-स्वरूप होने से पुष्प हैं। ज्ञान-स्वरूप होने से वेद, धर्मस्वरूप होने से वृषभ और अत्यन्त वेगवन्त होने से गरुड हैं। इसी प्रकार अन्य भी अनेक अनेक पदार्थों को आपका प्रतीक बनाकर ज्ञानीजन आपकी उपासना करते हैं। अनन्त है महिमा मेरे प्रभु की।

गहनता
उस
--

३१. निराकार भी साकार

आप निर्नाम हैं, फिर भी आप का नाम लेकर पुकारने को जी करता है। साकार तथा सोपाधिक होने के कारण जागतिक पदार्थों के तो नाम सोपाधिक हो सकते हैं, जो क ख ग आदि अक्षरों के संयोग से उत्पन्न होते है, परन्तु आप तो निरुपाधिक हैं, आपका क्या नाम हो सकता है? ठीक, समझा! आपका नाम भी कोई ऐसा शब्द होना चाहिए जो सर्वथा निरुपाधिक हो। परन्तु सम्पूर्ण शब्द-जगत् की परिक्रमा करके भी मैं कहाँ ऐसा शब्द प्राप्त करूँ जो निरुपाधिक हो?

अहा हा! कितना प्रिय है यह घोष, नाद तथा ध्वनि। यह है स्पन्द का सामान्य रूप जो क ख ग आदि सभी अक्षरों की तथा शब्दों की सृष्टि में उसी प्रकार अनुगत है जिस प्रकार इन अखिल रूपों में आप। ॐकार है इसका उच्चारण। अक्षर तथा शब्द तो कार्य होने से असत्य है, परन्तु यह उन सब में अनुगत उनका मूल कारण होने से सत्य है। अतः निरुपाधिक तथा सत्य-स्वरूप आपका 'ॐ' बस एक यही नाम सार्थक है।

आप न स्त्रीलिंगी हैं न पुरुषलिंगी हैं और न क्लीव लिंगी, तब आपका नाम किस लिंग का होना चाहिए? समस्त लिंगों से अतीत अथवा सभी लिंगों में समान रूप से अनुगत 'तत्' यह शब्द ही आपके लिए उपयुक्त है। अत्यंत परोक्ष होने से, अनुभवी-जन 'तत्' ऐसा कहकर आपकी ओर सकेत करते हैं। नामरूपात्मक समस्त पदार्थ असत् है, परन्तु उन सब में अनुगत आप सत् हैं। इसलिए ज्ञानीजन आपको 'सत्' शब्द के द्वारा संबोधित करते हैं। 'ॐ' 'तत्' 'सत्' इन तीन अक्षरोंवाला यह आपका नाम बिलकुल अन्वर्थक है। निराकार तथा निरुपाधिक होने से आप 'ॐ' हैं, अत्यन्त परोक्ष होने से 'तत्' और मूल सत्ता होने से आप 'सत्' हैं।

देखिये, कितना साहस बढ़ गया है इसका! निर्नाम का नाम रखने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो पाया है यह। अब चला है आप निराकार को साकार बनाने, निःरूप को रूप प्रदान करने, अपने से पृथक् बैठाकर जिसकी उपासना की जा सके जिसके इद्रियों द्वारा दर्शन किये जा सकें, जिसे माता पिता बन्धु तथा सखा कहकर पुकारा जा सके। भक्त बनकर जिसके चरणों में बैठा जा

सके, सेवक बनकर जिससे कृपा की भीख मागी जा सके, और शिशु बनकर जिसकी गोद मे खेला जा सके। और वह भी प्रेम मे गद्गद् हुआ इस अपने हृदय से लगा सके, अपने मे उसे लय कर सके, अपने मे घोलकर सत्ता-विहीन कर सके। इस उद्देश्य से निराकार की साकारोपासना करने के लिए ज्ञानी-जनो ने उसकी अनेक कलापूर्ण मूर्तियो का निर्माण किया है। यद्यपि सभी मूर्तिया निर्जीव हैं, परन्तु कलापूर्ण होने से सार्थक तथा सजीव हैं। यद्यपि अनेक हैं, परन्तु उस एक की विविध शक्तियो को अथवा उस एक के विविध रूपो को अभिव्यक्त करती होने से वे सब एक हैं। लौकिक जन भले इन अनेक मूर्तियो को तथा इनके विविध नाम-रूपो को देखकर परस्पर भिन्न होने के कारण इन्हे अनेक समझें, परन्तु ज्ञानी-जन उन सभी मे दर्शन करते हैं उस एक के। लोगो की भ्रम-बुद्धि को दूर करने के लिए ही कहते है वे, 'एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात सत् एक है, परन्तु ज्ञानीजन उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, उसको विविध रूपो में देखते हैं।

यद्यपि आपको कोई हाथ-पाव नही, फिर भी हाथ-पाव लगा दिये गये हैं आपको कही दो, चार और कही दस। कहाँ तक बढायी जाय इनकी सख्या, क्योकि आप तो अनत हैं। आपके पास कोई हथियार नही, फिर भी दे दिये गये हैं विविध हथियार तथा पदार्थ आपके हाथो में। कही चक्र, गदा, शख, पद्म, और कही खड्ग, बरछी, त्रिशूल, नरमुण्ड। सभी हैं प्रतीक आपकी विविध शक्तियो के। आपके पास कोई स्त्री नही, फिर भी बैठा दिया गया है आपकी स्पन्दस्वरूपा प्रधान चितिशक्ति को, आपके वाम भाग मे, आपकी पत्नी बनाकर। आप हैं जगत् पिता और वह है जगन्माता। आपके पास कोई वस्त्रालकार नही, फिर भी सज्जित कर दिया गया है आपके शरीर को विविध वस्त्रालकारो मे। सभी कर रहे हैं प्रतिनिधित्व आपके ज्ञान, आनन्द तथा व्यापकता का।

अहा हा! कितनी सुन्दर तथा सजीव हैं कविजनो की ये कल्पनाएँ। कल्पना नही सत्य है यह, क्योकि उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ अलकार ही तो होते हैं कविता के प्राण और उसी के मूर्तिकृत रूप हैं ये देवी देवताओ की विविध प्रतिमाएँ। ब्रह्मा आदि देवता तो हैं मूर्तिकरण आप के सृष्टि प्रलय आदि विविध कार्यों के, और काली आदि देवियाँ अथवा माताएँ हैं मूर्तिकरण आपकी स्पन्दात्मिका शक्ति की विविध अभिव्यक्तियो के।

गहनता
उस

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

कितना विशाल तथा उदार है मेरे प्रभु का हृदय। अपने स्वरूप के अनुरूप ही बनायी है उसने अपनी ये विविध व्यष्टियाँ। क्षुद्र-सी दीखती हैं, परन्तु महान् हैं सब, आपकी ही भाँति। वृक्ष में लगे अनन्त बीज, सभी हैं महान्, पूरे के पूरे वृक्ष को अपने हृदय में छिपाये। क्या पुत्र भी पिता से हीन होता है कही? भले पहले-पहल प्रतीति में न आये, पर विकसित होकर तो वह भी बन जाता है वैसा ही। स्वरूप की तरतमताएँ हैं मात्र स्पन्द-वैचित्र्य का फल। मूल मे है सब वही, वैसे ही।

कारण के अनुसार ही कार्य का होना न्याय-सिद्ध है। महाकारण-स्वरूप प्रभु के कार्य होने से ये सभी क्षुद्र व्यष्टियाँ पूर्ण सच्चिदानंदघन हैं। तरतमताएँ हैं केवल उसकी अभिव्यक्तियो में। किन्ही में सत् अधिक व्यक्त हो गया है और किन्ही में वह रह गया है कम। परमाणु संघात की तरतमता है, कारण किन्ही की सत्ता का आकार हो गया है बड़ा और किन्हीं का हो गया है छोटा। किन्ही की सत्ता हो गयी है चिरस्थायी और किन्ही की रह गयी है क्षणस्थायी। किन्ही में है चित् की अभिव्यक्ति मात्र क्रिया के रूप मे और किन्ही में ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न आदि के रूप मे। किन्ही मे है आनन्द की अभिव्यक्ति आणविक नृत्य के रूप में, किन्ही मे चित्र विचित्र रगों तथा रसों के रूप में, और किन्ही मे सुख आदि की सवेदना के रूप मे।

इतना ही नही, प्रत्येक व्यष्टि मे जो कुछ भी क्रियात्मक या ज्ञानात्मक शक्तियाँ काम करती दिखाई दे रही हैं, वे सब वास्तव में आप की ही विशाल शक्ति के क्षुद्र अंश हैं, अथवा उसी की क्षुद्र स्फुरणाएँ हैं। भँवर में दृष्ट जल की भ्रमण-शक्ति सागर की ही अखण्ड-शक्ति का एक क्षुद्र अंश है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही। मन के ऊपरी तल पर तैरनेवाले संकल्प-विकल्पों मे अथवा स्वप्न मे दृष्ट ज्ञानशक्ति मनकी ही अखण्ड शक्ति का एक क्षुद्र अंश है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।

इस प्रकार देखने पर जीवात्मा तथा परमात्मा में भी केवल शक्ति का भेद है, स्वरूपतः दोनो एक हैं। परमात्मा भी चेतन है और जीवात्मा भी। परमात्मा भी सृष्टि की उपाधि से युक्त होकर सविकल्प हो जाता है और

जीवात्मा भी मानसिक सृष्टि की उपाधि से युक्त होकर सविकल्प हो जाता है। परमात्मा की सृष्टिकारिणी स्पन्दन शक्ति प्रकृति है, जो महान् है और जीवात्मा की सृष्टिकारिणी स्पन्दन शक्ति चित्त है, जो अणु है। प्रकृतिकृत परमात्माकी यह सृष्टि महान् है और जीवात्मा की मानसिक सृष्टि अणु है। परमात्मा की इस सृष्टि की स्थिति करोडो वर्ष प्रमाण है और जीवात्मा की मानसिक सृष्टि की स्थिति क्षण मात्र है। इस प्रकार परमात्मा महेश्वर है और जीवात्मा लघु-ईश्वर।

जिस प्रकार सरोवर के जल में पत्थर फेंकने से उत्पन्न हुआ केन्द्र अपनी परिधि बढाते बढाते सारे सरोवर को घेरकर महान् हो जाता है, और जिस प्रकार बिन्दु सागर में लीन होकर महान् बन जाता है, उसी प्रकार ये सब व्यष्टियाँ भी धीरे धीरे विकसित होती हुइ, प्रभु के समान महान् बनकर उसमें लीन हो जाती हैं, और तब उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही रह जाती। पाषाण धीरे धीरे विकसित होकर बन जाता है इन्सान और इन्सान बन जाता है भगवान्।

समष्टि स्वरूप प्रभु की तो बात ही क्या, वे तो है ही पूर्ण, यहाँ तो उनकी ये पृथक पृथक व्यष्टियाँ भी, पूर्णता की शक्ति को अपने गर्भ में धारण किये वास्तव में बीजकी भाति पूर्ण ही हैं।

फोटोग्राफर की दुकान पर अपने एक ही व्यक्ति के छोटे बडे अनेक चित्र टगे देखे हैं। तनिक विचारिये कि इन सब चित्रो या फोटुओं में छोटे बडे साइज के अतिरिक्त अन्य क्या भेद है? किस चित्र में उस व्यक्ति का रूप पूर्ण है और किसमें अपूर्ण? इसी प्रकार विश्वकर्मा की इस दुकान पर एक ही प्रभु के ये चित्र विचित्र अनेक रूप या नमूने टगे हुए हैं। तनिक विचारिये कि इन सब रूपों या नमूनो में नाम रूपगत वैचित्र्य के अतिरिक्त अन्य क्या भेद है? किस पदार्थ में प्रभु का रूप पूर्ण है और किसमें अपूर्ण? इन्द्रियाधीन साधारण दृष्टि से देखने पर भले इसमें वैचित्र्य की प्रतीति होती हो, परन्तु, विवेकाधीन तात्त्विक दृष्टि से देखने पर इनमें तनिक भी अन्तर नही है। उसी प्रभु के रूप होने के कारण सभी पूर्ण हैं।

यही है वह तृतीय नेत्र जिसके द्वारा ज्ञानीजन जड अथवा चेतन हर पदार्थ में प्रभु का दर्शन करते हैं, और प्रभु समझकर ही इनके साथ समता तथा प्रेम का व्यवहार करते हैं। इसी नेत्र के द्वारा योगीजन जीवात्मा में परमात्मा के दर्शन करते हैं और हृदयाकाश में उसका साक्षात्कार करते हैं। इसी नेत्र के द्वारा वे अपने अपूर्ण 'अहं' को विस्तृत करके पूर्ण बनाते हैं। •

जिस प्रकार दीवारों की अथवा घट की उपाधि के भग्न हो जाने पर दोनों प्रकाश तथा दोनों आकाश एक हो जाते हैं, उसी प्रकार अहंकार की उपाधि भग्न हो जाने पर अहंता, तथा इदंता, ये दोनों एक हो जाते हैं।

जिस प्रकार दीवारो की अथवा घट की उपाधि टूटने के पश्चात् ही यह पता चलता है, उससे पहले नही, कि ये दोनों प्रकाश तथा दोनों आकाश वास्तव मे पहले भी एक ही थे; उसी प्रकार अहंकार को उपाधि टूटने के पश्चात् ही यह पता चलता है, उससे पहले नही, कि अहंता तथा इदंता-ये दोनों वास्तव मे पहले भी एक ही थे।

जिस प्रकार दीवारो के अथवा घट के टूट जाने पर दोनों प्रकाश तथा दोनों आकाश परस्पर मे घुल मिलकर एक हो जाते हैं; उसी प्रकार अहंकार की उपाधि टूट जाने पर अहंता तथा इदता, ये दोनों परस्पर मे घुल मिलकर एक हो जाते हैं। जिस प्रकार स्वप्न भंग हो जाने पर न रहता है द्रष्टा न दृश्य, रह जाता है केवल एक अखण्ड ज्ञान; उसी प्रकार अहंकार की उपाधि भग हो जाने पर न रहता है उसके लिए 'अहं' और न रहता है 'इदं', रह जाता है केवल एक अखण्ड तत्त्व।

यदि अखिल समष्टि को युगपत् 'अहं' रूपेण अनुभव करता होता तो अवश्य वह व्यापक हो जाता, परन्तु बहिर्मुखी 'अहं' का यह रूप नहीं है। वह किसी एक व्यष्टि को अपना विषय बनाकर उसके चारों ओर मंडराता हुआ अपने को उसकी सकीर्ण परिधि में बाँध लेता है और इसलिए स्वयं संकीर्ण हो जाता है।

दूसरी ओर यदि देहस्थित हृदय में उतरकर वह अपने को तद्रूप अनुभव करता होता तो अवश्य ही संकीर्ण हो जाता, परन्तु अन्तर्मुखी 'अहं' का यह रूप नही है। यद्यपि सम्पूर्ण जगत् को छोड़कर वह हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुफा में उतर गया है जो अत्यन्त संकीर्ण है, परन्तु वहाँ जाकर वह अपने को व्यापक तथा पूर्ण अनुभव करता है। वहाँ वह देखता है कि हृदयगत सूक्ष्म प्रकाश या चेतना समष्टिगत प्रकाश या चेतना से कुछ पृथक् नहीं है, प्रत्युत वह ही है, इसमें भीतर तथा बाहर का कोई भेद नही है।

उसके प्रति बाहर भीतर का अथवा व्यष्टि समष्टि का सकल भेद नष्ट हो जाता है। अब उसका 'अहं' अखिल विश्व में व्यापकर एकाकार हो जाता है। अब वह अपने को विश्व रूप और विश्व को 'अहं' रूप अनुभव करने लगता है। इसलिए वह भूमा बन जाता है। अब उसे कहो हृदय-निष्ठ 'अहं' या कहो

समष्टि निष्ठ 'प्रभु' एक ही बात है। इसलिए प्रभु का स्थान हृदय है, बुद्धि नही।

वहाँ वह ऐसा अनुभव करता है, मानो यह सम्पूण समष्टि ही 'मैं' हूँ, मैं ही सम्पूण समष्टि हूँ। सम्पूण समष्टि इस 'मैं' का शरीर है और यह 'मैं' उसकी आत्मा है। 'मैं वह हू' (हस), और 'वह मैं हु' (सोऽह)। इसी से जीवात्मा को कवि जन 'हस' सज्ञा प्रदान करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर ही इसकी सत्यता प्रतीत होती है, भौतिक दृष्टि से देखने पर नही। यहाँ आकर 'अह' का अथ देहस्थित अह प्रत्यय मात्र नही रह गया है, बल्कि हो गया है सत् चित् आनन्द। समष्टि सागर का विशाल स्पन्द ही है अब इसका लक्षण, समस्त व्यष्टियाँ हैं जिसकी क्षुद्र तरगें।

इस प्रकार एक ही 'अह' सकीण होकर दैत्यराज अहकार बन जाता है और वह ही व्यापक होकर भगवान् बन जाता है। •

३४ अह-विकास

जब तक शिशु मे अहकार जागृत नही होता, तब तक उसके भरण-पोषण का समस्त भार मा पर रहता है, इसीलिए हेयोपादेय के विवेक से शून्य आपके 'अह' को प्रकृति माँ ने स्वय पाषाण से उठाकर इन्सान तक पहुँचा दिया। यदि अब भी यह अहकार जागृत होकर अपने को उससे पृथक् न कर लेता तो अवश्य ही वह इसको इन्सान से उठाकर भगवान बना देती। पर क्या करे वह, इस अहकार ने इन्सान बनकर अपने जीवन की बागडोर मा के हाथ से छीन कर स्वय अपने हाथ मे ले ली है, इसलिए यहाँ से धीरे धीरे उठ कर भगवान तक पहुँचना अब स्वय इसके अपने पुरुषार्थ पर निभर है।

'अह' के इस विकास-क्रम मे इसे अनेक भूमिकाओ म से होकर जाना पडेगा। प्रत्येक ऊपर-ऊपर की भूमिका मे इसका विस्तार व्यापक होता जायेगा, और तदनुसार सत् चित् आनन्द के अथवा आचार विचार तथा धर्म के सर्व लक्षण उसके प्रति बदलते चले जायेंगे। पहले पहलेवाले लक्षण आगे आगेवालो म डूब कर असत्य हुए प्रतीत होने लगेंगे, जिस प्रकार युवा हो जाने पर आपके अपने ही बाल्यकाल का जीवन तथा क्रियाएँ आपके लिए अब उपहास की वस्तु बन चुकी होती हैं।

शरीर को तथा दृष्ट जगत् को ही 'मैं' तथा 'मेरे' रूप से अनुभव करनेवाला और स्त्री कुटुम्ब आदि के अर्जन ग्रहण तथा रक्षण को ही धर्म समझनेवाला यह वहिर्मुखी 'अहं' अपनी इस प्रथम भूमि से ऊपर उठ कर, विविध साम्प्रदायिक स्तरोंवाली द्वितीय भूमि में से होता हुआ, प्रभु-कृपा से सर्वप्रथम सत्य-चिन्तन की तृतीय-भूमि में प्रवेश करता है, जहाँ उसके देखने तथा सोचने का ढंग वदल जाता है। फलस्वरूप सत्-चित् तथा आनन्द के अव तक कहे गये तात्त्विक लक्षणों का उसे कुछ धुँधला-सा आभास प्रतीत होने लगता है। सव साम्प्रदायिक विधि-विधान जो उसे अव तक कुछ कल्याणकारी से जँचते थे, उसके लिए अव एक निस्सार-सी रूढ़ि मात्र वन कर रह जाते हैं। पद-पद पर प्रभु या तत्त्व-चिन्तन द्वारा मन का समाधान करते हुए अपनी विविध वृत्तियों को वाहर से हटा कर भीतर की ओर उन्मुख करते रहना ही यहाँ उसका धर्म हो जाता है।

इसी प्रकार धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ वह चतुर्थ भूमि मे प्रवेश करके इन्द्रिय मन चित्त तथा वुद्धि के विविध आभ्यन्तर राज्यों का अतिक्रम करने लगता है। वृत्तियों के समस्त भेद अव उसे किसी अदृष्ट सत्ता पर तैरते-से प्रतीत होने लगते हैं, और रौढिक क्रियाएँ निष्प्राण होकर स्वतः एक-एक करके किनारा करने लगती हैं। ध्यान तथा समाधि द्वारा इंद्रियों को मन मे, मन को वुद्धि में और वुद्धि को हृदय मे लीन करते जाना ही अव उसका धर्म वन जाता है।

यहाँ तक कि पंचम भूमि के प्राप्त होने पर वह अन्तर्मुखी होकर इन इंद्रिय आदिकों में अनुगत एक नित्य शुद्ध-वुद्ध अहं-प्रत्यय का साक्षात् करने लगता है। कुछ विद्वान् इसे 'स्वानुभूति' कहते हैं। अन्तर्मग्न-सा हुआ वह अव उसमें सत् के, उसकी अंतर्चेतना में चित् के तथा उसकी शान्त-स्थिरता मे आनन्द के दर्शन करने लगता है। रूढ़ियाँ यहाँ आकर निःशेप हो जाती हैं। मनुष्य से कीट पर्यन्त के अनन्त छोटे-वड़े प्राणी अव उसे अपने समान दीखने लगते हैं। शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि के सभी द्वन्द्व शून्य में विलीन हो जाते है, और समता-युक्त विचरण करना उसका धर्म हो जाता है।

षष्ठ भूमिका मे पदार्पण करने पर उसकी अन्तर्मुखता और भी आगे वढ़ जाती है। यहाँ व्यष्टिगत समस्त जीवात्माएँ तथा अनन्त परमाणु-पुंज भी उसे घुलते-से प्रतीत होते है, किसी एक अनिर्वचनीय शून्य में। यही शून्य वन जाता है उसका सत् चित् तथा आनन्द। संकल्प विकल्पात्मक अन्तर्जल्प घुल जाता है एक सामान्य ॐकार नाद में, और तत्‌गत समस्त रूप तथा आकृतियाँ

घुल जाती हैं एक सामान्य ज्योति म या बिन्दु मे। न उसे अब प्रतीत होता है कुछ दु ख, न सुख। बाहर तथा भीतर कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता अब उसके लिए। अत्यन्त कृतकृत्यता का आह्लादपूण अनुभव करते हुए नैष्कर्म बने रहना ही अब उसका धम हो जाता है। इसे ही ज्ञानीजन 'अपरोक्षा-नुभूति' कहते हैं।

'अह' की इन विविध अनुभूतियो मे प्रत्यक्ष किये गये ये उपर्युक्त तथ्य कोरी कल्पनाएँ हैं या इनमे कुछ सत्याश भी है, इस विषय मे यहाँ कुछ भी कहा जाना शक्य नही है। हा, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रकार क्रम से विकसित होता हुआ व्यक्ति का सकीण अह धीरे धीरे अन्तिम भूमि मे पहुँच कर इतना व्यापक हो जाता है, कि उसके लिए न रह जाता है कुछ विधि और न कुछ निषेध। उपरितलवर्ती अनन्त व्यष्टियाँ तथा उनकी विविध स्फुरणाएँ और अन्तस्तलवर्ती एकाकार तत्त्व तथा उसका स्पन्द, इन दोनो का एक-रसात्मक रूप ही बन जाता है अब उसका सत् चित् आनन्द।

समता बन जाती है यहाँ एकता, समस्त विश्व बन जाता है मैं और मैं बन जाता है समस्त विश्व की आत्मा। वीतरागता धारण कर लेती है रूप प्रेम का। विश्व को त्यागकर स यासी हो जाने के बजाय अब वह आत्मसात् कर लेता है समस्त विश्व को, अपने शिशु की भाँति। त्याग तथा ग्रहण समान हो जाते हैं अब उसके लिए। इत्याकारक विशाल प्रेम ही बन जाता है अब उसका वैराग्य, कामनापूण सकीर्ण स्वार्थ के प्रति ही रहती है विरक्तता जिसम।

अब न रह जाता है उसके लिए कुछ कत्तव्य या अकत्तव्य, न धम या अधम। अथवा कतव्य तथा अकत्तव्य सभी बन जाते हैं उसके कत्तव्य और धम तथा अधर्म सभी बन जाते हैं उसके धम। स यासी तथा गृहस्थ में अब कुछ भी अन्तर नही रह जाता उसके लिए। शिशुवत् स्वच्छ द हो जाता है वह और यही है उसका कम-कौशल, जिसका वणन आगे किया जानेवाला है।

यह है मात्र एक सक्षिप्त सा आभास इस 'अह' के व्यक्तित्व के विकास का, इसलिए इसे अक्षरश ऐसा ही न समझ लेना। कोई ऐसा नियम नही कि इस महायात्रा में व्यक्ति को प्राप्त इन भूमिकाओ का ऐसा ही आकार प्रकार होता है या कुछ और।

व्यक्ति की अपनी प्रकृति, रुचि तथा परिस्थिति के अनुसार इनके आकार प्रकार अन त हो सकते हैं। विभिन्न व्यक्तियों में ये विभिन्न होते हैं। यह भी कोई आवश्यक नही कि सभी के जीवन में इतनी ही भूमिकाएँ आती हो। अपनी अपनी योग्यता के अनुसार किसी के जीवन मे कम आती हैं और किसी में

अधिक। यह भी कोई आवश्यक नहीं कि साम्प्रदायिक नामवाली द्वितीय भूमिका का अवश्य स्पर्श करना पड़ता हो, इसे स्पर्श किये बिना भी व्यक्ति ऊपर चढ़ सकता है।

अथवा यों कह लीजिये कि सभी को सभी भूमियों में से होकर जाना होता है। जो वर्तमान भव में अन्तिम भूमि पर आरूढ़ दिखाई देते हैं, वे अपने पहले कुछ भवों में पूर्व की सर्व भूमिकाओं का अतिक्रम करके ही यहाँ तक आये हैं, और जो वर्तमान भव में प्रथम या किसी मध्यम भूमि में स्थित दिखाई देते हैं, वे अवश्य अपने अगले कुछ भवो में शेष भूमिकाओ का अतिक्रम करके पूर्ण हो जानेवाले हैं।

अहं-विकास का यह क्रम कोई एक भव का खेल नही है। एक भववर्ती संकीर्ण दृष्टि से देखने पर ही व्यक्ति को अपनी वर्तमान स्थिति से कुछ निराशा होने लगती है। परन्तु अनेक भववर्ती व्यापक दृष्टि से देखने पर न रहती है निराशा और न आश्चर्य। वहाँ दिखाई देते हैं सब समान, एक नाव के पथिक। सब जा रहे हैं प्रभु की ओर, कोई आगे कोई पीछे, और सबको खीच रहे हैं प्रभु अपनी ओर, प्रेम-पूर्वक धीरे-धीरे उन्हे परिपक्वता प्रदान करते हुए। किसी को भी नही रहना है सदा यहाँ, सबको चले जाना है बारी-बारी वही, प्रभु की शरण में, माँ की प्यार भरी गोद में। •

३५. कर्म-कौशल

अन्तर्मुखी होकर कर्म-कुशल बन जाता है वह 'अह'। कर्म की गति के विषय मे उसकी दृष्टि बदल जाती है। बहिर्मुखी 'अह' कहता है जिसे कर्म, वह देखता है उसमें अकर्म; और बहिर्मुखी 'अह' कहता है जिसे अकर्म, वह देखता है उसमें कर्म। जगत् बाह्य के जिस शारीरिक जीवन में जागता है, वहाँ वह सोता है; और जगत् अन्तरंग के जिस मानसिक जीवन में सोता है, वहाँ वह जागता है। अन्तरंग कर्म ही चित्त से चिपकता है, बाह्य नहीं।

'कर्म क्या है' ऐसा विचार करने पर उत्तर आता है यह कि चौबीस घण्टे में जो कुछ भी किया जा रहा है, बाहर तथा भीतर, वह हमारा कर्म है। क्या करना चाहिए, कहाँ करना चाहिए, कब करना चाहिए, और किस प्रकार करना चाहिए, ऐसा विवेक ही है कर्म-कौशल।

वहिर्मुखी 'अह' की समाधि भी है व्याधि, क्योकि वह वैठा है कमर सीधी करके स्थिर मुद्रा से नासाग्र पर दृष्टि जमाये, बिना इस बात की चिन्ता किये कि कितना भगदड मची है विविध द्वन्द्वपूर्ण विषमताओ की उसके मन मे। शरीर से स्थिर बैठा हुआ भी मन मे कहा-कहा दौडा फिर रहा है वह। क्या समाधिस्थ होते हुए भी वास्तव मे समाधिस्थ हो पाया है वह ?

दूसरी ओर अन्तर्मुखी 'अह' की व्याधि भी है समाधि, क्योकि इष्टा-निष्टादि द्वन्द्वो मे समता धारण कर उसने स्थिर कर लिया है अपने मन को बिना इस बात की चिंता किये कि उसका शरीर बैठा है कही स्थिर आसन पर अथवा घूम रहा है वह बाजार म या कर रहा है युद्ध शत्रु-दल से। उसके लिए न कुछ समाधि है, न व्याधि। दुकान पर बैठकर व्यापार करना अथवा राजा बनकर युद्ध करना भी उसके लिए वैसा ही है, जैसा कि ध्यानस्थ होकर बैठना। बाहर मे सर्वत्र घूमता हुआ भी वह है पूर्ण समाधिस्थ। और यही है उसका समाधि-कौशल।

वहिर्मुखी 'अह' का धर्म भी है अधर्म, क्योकि अपने बाहरी त्याग तथा वैराग्यादि की पूर्ति के लिए लेना पडता है उसे आश्रय विविध कृत्रिमताओ का, लज्जा भय तथा गौरववशात् प्रयत्न करता है वह छिपाने का अपने भीतरी जगत् को, बिना इस बात की पर्वाह किये कि ऐसा करके वह स्वय अपने प्रशसको के आधीन हुआ जा रहा है, और उसका सकल धर्माचरण दम्भाचरण बना जा रहा है। क्या सब कुछ आचरण करके भी वह हो पाया है वास्तव म आचारवान् अथवा धर्मी ?

दूसरी ओर अन्तर्मुखी 'अह' का अधर्म भी है धर्म, क्योकि हटाकर एषणाओ तथा विकल्पो का जाल, वह आचरण करता है हृदय मे, जहाँ है विराजमान साक्षात् प्रभु, बिना इस बात की परवाह किये कि शास्त्र-सम्मत कोई भी आचरण कर पा रहा है वह या नही। न वह करता है प्रयत्न शास्त्रोक्त विधि-विधानों को अपने सिर पर लादने का और न रहती है उसे आवश्यकता किसी कृत्रिमता की या दिखावट की। न है उसे किसी की लज्जा न भय न गौरव, क्योकि न है उसे किसी से अपनी प्रशसा सुनने की चाह न धर्मीपने का सर्टीफिकेट पाने की इच्छा। उसके लिए न है कुछ धर्म, न अधर्म। पापियो का सहार करना भी उसके लिए वैसा ही है, जैसा कि मन्दिर मे बैठ कर भगवान् का पूजन करना।

अपनी अपनी प्रकृति, शक्ति तथा परिस्थिति के अनुसार अपने अपने वर्ण तथा आश्रमगत समस्त कर्तव्यो का यथाविधि पालन करना ही है उसका धर्म। इसलिए बाहर से अधर्म-सा करता हुआ भी वह है सब धर्मात्माओ का धर्मात्मा। और यही है उसका धर्म-कौशल।

३७. वन्ध-विवेक

'वन्ध क्या और मोक्ष क्या'—इस विषय में भी एक भारी भ्रम है। वहिर्मुखी 'अहं' के अनेकानेक स्तर हैं और उनके अनुसार ही वह अपने वन्ध तथा मोक्ष के लक्षणों का निर्धारण करता है। पशु पक्षी समझते हैं शृंखला, रस्सी तथा जाल को वन्धन और उनसे छूटने को मोक्ष। अपराधी-जन समझते हैं जेल को वन्धन और उससे छूटने को मोक्ष। स्वच्छन्द प्रजा समझती है राज्य के विधि-विधान को वन्धन और उसके अभावको मोक्ष। इसी प्रकार स्वच्छन्दाचारी व्यक्ति समझता है शास्त्रगत विधि-विधान को वन्धन और 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' ऐसी निरर्गलता को मोक्ष। धर्मीजन समझते हैं शरीर, धन, कुटुम्बादि को तथा तत्सम्बन्धी अपने कर्मों को वन्ध और इनके अभाव को मोक्ष।

परन्तु अन्तर्मुखी 'अहं' की धारणा इस विषय में निराली ही है। जिसे कहता है वहिर्मुखी 'अहं' वन्ध, उसमें देखता है वह अवन्ध तथा जिसे कहता है वह मोक्ष, उसमें देखता है वह वन्ध। उसका मूल वन्धन है कामना, जिसके सद्भाव मे सब उपर्युक्त बातें वन्ध हैं और जिसके अभाव में वे न वन्ध हैं न अवन्ध।

इस विषय मे उसकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक है। वह जानता है कि यह 'अहं' स्वयं भूमा है, तदपि विविध विकल्पों के द्वारा इसने स्वयं अपने को संकीर्ण कर लिया है। चक्रव्यूह में घेर लिये गये अभिमन्यु की भाँति इन विकल्पों ने घेरा डालकर उसे एक संकीर्ण परिधि में बाँध रखा है। एक परिधि मे दूसरी और दूसरी में तीसरी बाँध होने के कारण यह घेराभूत होकर इतना दृढ़ हो गया है कि वहुत प्रयत्न करने पर भी इसका भेदन करने के लिए वह अपने को समर्थ नहीं पा रहा है। इस कारण वह 'अहं' अपने को इतना ही मान बैठा है।

प्रथम भूमि में यह घेरा होता है अत्यन्त संकीर्ण, दीखती है उसे मात्र देह, और कुछ नही। और इसलिए वह समझ बैठता है अपने को मात्र इतना

हो, क्योकि तहाँ समस्त विकल्प इसे ही अपने विषयो का केन्द्र-बिन्दु बनाकर घूमते रहते हैं इसके चारो ओर। 'अहं' के विकास-क्रम मे धीरे-धीरे बढती जाती है यह परिधि, क्षीण होती जाती है विकल्पो की घटा और इस परिधि से बाहर अपने सत्य स्वरूप का धुंधला-सा दर्शन करता हुआ वह बन जाता है स्वयं व्यापक स्वयं भूमा।

इन बेचारे विकल्पो का भी क्या दोष, क्योकि इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता ही कहाँ है? ये तो हैं सब एक कामना के सेवक, अथवा कामना की सृष्टि। कामना ही इच्छा बनकर व्यक्त होती है लोभ के रूप मे, जिसे कहा गया है पाप का बाप, क्योकि क्रोध मान माया आदि तथा उनसे अनुरंजित समस्त जागतिक आचार विचार है मात्र उसी की सन्तान।

लोभ ही अपने विषयभूत पदार्थ को प्राप्त करने की आसक्तिवश झझोड डालता है मनको और वह मन ही उसकी प्राप्ति के उपाय सोचता हुआ धीरे धीरे घनीभूत होकर रूप धारण कर लेता है प्रयत्न का। उसके ये विविध उपाय ही बन बैठते हैं मायाचारी। इच्छा के अनुसार विषय प्राप्त हो जाने पर वह मायाचारी समझ बैठती है अपने प्रयत्न की सफलता और अभिमान का रूप धारण करके समझने लगती है सबको तुच्छ। इसी प्रकार इच्छा के अनुसार विषय प्राप्त न होने पर वह मायाचारी समझ बैठती है अपने प्रयत्न की विफलता और सिर लटकाकर बन जाती है दीन। सफलता मे आशा तथा हर्ष और विफलता मे निराशा तथा शोक का होना स्वाभाविक है। इस सफलता के मार्ग मे यदि कदाचित् कोई विघ्न आ पडे तो भभक उठता है उसका अभिमान, क्रोध के मारे, मानो सारे विश्व को ही भस्म कर डालेगा अभी।

इसलिए कामना ही वास्तव मे वह मूल बन्धन है जो स्वयं विकल्पो का रूप धारण करके 'अहं' को घेर रखता है सकीर्ण परिधि मे, और कषायों की आँधी बनकर फोड देती है उसकी विवेकचक्षु, ताकि इस परिधि से बाहर झाकने का प्रयत्न भी न कर सके वह।

अन्तर्मुखी 'अहं' के लिए न है यह स्थूल शरीर बन्धन और न ही इसके कर्म, क्योकि मन तथा शरीर की क्रियाओ मे पारस्परिक सम्बन्ध का सन्धान करने पर उसे उनमे कोई भी सबध प्रतीति मे नहीं आता। यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर इनमे कुछ व्याप्ति अवश्य दिखाई देती है, अर्थात् मन मे विकल्पो का उदय होने पर शरीर अवश्य तदनुसार वर्तन करने लगता है, और शरीर जैसा करने लगे तो मन को भी उसका अनुसरण करना पडता है। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखने पर ये दोनों स्वतन्त्र हैं, इनमे परस्पर कोई भी सम्बन्ध

नहीं है। धुएँ तथा अग्नि में तो एक तर्फा व्याप्ति है भी, परन्तु यहाँ एकतर्फा व्याप्ति भी निश्चित नही; क्योंकि अग्नि के अभाव में धूमका सद्भाव अवश्यम्भावी न होने पर भी जिस प्रकार अग्नि के सद्भाव में धूम अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार यह कोई आवश्यक वात नहीं कि मन में विकल्प जागृत हो जाने पर व्यक्ति को शरीर से भी तदनुसार कार्य अवश्य करना ही पड़े, क्योंकि हठपूर्वक शरीर की क्रियाओ पर नियन्त्रण किया जाना सर्व-प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार यह भी कोई आवश्यक वात नही कि शरीर के क्रियाशील हो जाने पर व्यक्ति को मन से भी तदनुसार चिन्तन या विकल्प करना ही पडे, क्योंकि पिता की आज्ञा से काम करनेवाला वालक शरीर से समस्त कार्य करता हुआ भी तत्सम्वन्धी चिन्ताओ तथा विकल्पों से शून्य रहता है। इसलिए कामना ही मूल वन्धन है; न है शरीर, न उसकी क्रिया, और न वाह्य पदार्थ।

३८. मुक्ति-कौशल

वन्ध की ही भाँति मोक्ष के लक्षणों मे भी भूमिकानुसार आकाश पाताल का अन्तर है। वहिर्मुखी अहं का मोक्ष भी है वन्ध, क्योकि वह शरीरान्त हो जाने मात्र से समझ लेता है अपने को मुक्त, विना इस वात का विचार किये कि अव भी वह अपने साथ लिये जा रहा है एक सूक्ष्म शरीर, मन वुद्धि अहकार चित्त तथा प्राणो का, जो अगले भव मे निर्माण कर देगा उसके लिए एक नये स्थूल शरीर का।

अथवा वह समझ लेता है अपने को मुक्त, जगत् के इन वाह्य पदार्थों मे संन्यस्त होकर; अथवा वह समझ लेता है अपने को मुक्त, समस्त कर्मों का स्वरूप से त्याग करके, विना इस वात की चिन्ता किये कि अव भी उसका मन तो वँधा ही पड़ा है विविध कामनाओ तथा संकल्प-विकल्पो के जाल में। अव भी पड़ा है वहाँ ममत्व तथा कर्तृत्व, भले ही इन्होंने अव वदल लिया हो अपना रूप। पहले था वह विध्यात्मक और अव हो गया है निषेधात्मक। पहले कहता था वह यह कि 'ये पदार्थ मेरे है, क्योंकि इनका अर्जन तथा संग्रह मैंने किया है'; और अव कहता है यह कि 'ये पदार्थ मेरे नहीं है, क्योंकि इनका त्याग मैंने किया है।' पहले कहता था वह यह कि 'यह कर्म मेरा है, क्योकि मैंने स्वयं इसे अपने लिए किया है', और अव कहता है यह कि 'यह कर्म-संन्यास मेरा है क्योकि मैंने स्वयं इसे अपनी मुक्ति के लिए किया है।'

अथवा वह समझ लेता है अपने को मुक्त, स्थूल तथा सूक्ष्म दोनो शरीरो का अन्त हो जाने मात्र से, अथवा उसके फलस्वरूप लोक शिखर पर कही जा विराजने मात्र से, बिना इस बात की परवाह किये कि अब भी उसके 'अह' की परिधि भग्न होने नही पायी है। यद्यपि सम्पूर्ण सकल्प विकल्पो को तथा सम्पूर्ण कामनाओ को धोकर अत्यन्त पवित्र कर लिया है अपना अन्तकरण उसने, तदपि अब भी बैठा है 'अहकार' अपने किसी सूक्ष्म रूप मे। यद्यपि बाह्य मे स्थूल शरीर से और अन्तरग मे मन बुद्धि आदि रूप सूक्ष्म शरीर से मुक्त हो चुका है वह, तदपि बाध रखा है उसके इस अहकार ने उसे व्यष्टि-सकीर्णता मे। वह समझ रहा अब भी अपने को अन्य सकल व्यष्टियो से पृथक्, और इस कारण जीवात्मा के रूप मे अपना अनुभव कर लेने पर भी भूमा के रूप मे अपना अनुभव अभी नही कर पाया है वह। कितना भी वृद्धिगत क्यो न हो गया हो उसका आनन्द, परन्तु अब भी बैठा है वहा किसी न किसी रूप मे अल्पता का महादुख। इस प्रकार मुक्त होकर भी क्या वास्तव में हो पाया है वह मुक्त ?

दूसरी ओर अन्तर्मुखी 'अह' का बन्ध भी है मोक्ष, क्योकि वह हो गया है मुक्त अन्तरग से। न हैं उसके पास कामनाएँ, न सकल्प विकल्प, न मन बुद्धि तथा चित्त और न अहकारगत सकीर्ण परिधि। शरीर-युक्त होकर भी वह है मुक्त क्योकि वह बँधा ही कब था ? सच्चिदानन्द पहले भी था और वही है अब भी। धन स्त्री कुटुम्ब आदिको से युक्त भी वह है मुक्त, क्योकि वे बँधे ही कब थे उससे ? वह तो था सच्चिदानन्द पहले भी और वही है अब भी। इस लोक में रहते हुए भी वह है मुक्त, क्योकि वह रहता ही है कब इसमें ? वह तो रहता है हृदय में, जहाँ तक पहुँचने की इसमें सामर्थ्य नही।

सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी वह है मुक्त, क्योकि वे विचारे चिपटते ही कब हैं उसको, चिपटती थी कामनाएँ और वे अब हैं नही। ये सब बाह्य पदार्थ तथा कर्म बन गये हैं उसके लिए अब ईर्यापथ अर्थात् आओ और जाओ, ठहरने का काम नही। वह करता है सब कुछ और भोगता है सब कुछ, परन्तु कामना-विहीन उन कर्मों तथा भोगो में अब शक्ति ही कहाँ है, उसके चित्त पर कोई सस्कार अकित करने की ? जली रस्सी की भाँति अब बाधने की शक्ति कहा रह गयी है इनमें ? बाहर में दीखते अवश्य हैं, पर अन्दर में हैं ही नही।

शास्त्र विहित कर्मों की तो बात नही, यहाँ तो शास्त्र निषिद्ध कर्मों की भी नही चलती कुछ तीन-पाँच। अपने कर्तव्य पथपर चलते हुए आवश्यकता पड़ने पर क्वचित् कदाचित् क्रोध चोरी तथा असत्य भाषण जैसे पाप-कार्य भी

यदि उसे करने पड़ें तो भी उसके निर्मल हृदय को उनका स्पर्श नही होता है। यद्यपि सुनने में यह बात अटपटी-सी लगती है, तदपि इसके हृदय में निहित रहस्य को समझ लेने पर सन्देह को अवकाश नही रह जाता। शास्त्र-विहित हो या हो शास्त्र-निषिद्ध, उसका कोई भी कार्य स्वार्थ-पोषण के लिए न होकर केवल लोक-सग्रह के लिए होता है। कामना का अभाव हो जाने के कारण उसका संकीर्ण स्वार्थ व्यापक होकर विश्व-प्रेम बन गया है। यहाँ है वह रहस्य, जिसके कारण वह कर्ता भी अकर्ता है और भोक्ता भी अभोक्ता। क्या शिशु के प्रति माता का क्रोध अथवा शिष्य के प्रति गुरु का क्रोध कही उनके लिए बन्धनकारी हो सकता है? अथवा क्या अतिथि भगवान के सेवार्थ की गयी चोरी सन्त कबीर के लिए बन्धनकारी हो सकती है? परन्तु यहाँ हृदय की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा ये पाप साधारण पापो की अपेक्षा भी कही अधिक भयंकर हो जायेंगे।

भले ही 'अहं' की पूर्ववर्ती भूमिकाओ मे वे कार्य उसके लिए बन्धनकारी रहे हो, परन्तु चरम भूमिका में प्रवेश कर जाने पर उसे ऐसी आशंका के लिए कही स्थान नही रह जाता। कर्म को बन्धनकारी कहना वास्तव में उपचार है, परमार्थ नही। कर्म की प्रेरिका होने के कारण कामना ही बन्धनकारी है, काम नही। पूर्व भूमिका मे भी उन कर्मों की कामना ही बन्धनकारी थी, कर्म नही। यहाँ चूंकि वह नि.शेष हो जाती है इसलिए पुण्य-पाप कार्य भी उसके लिए बन्धनकारी नहीं हो पाते। यहाँ का सिद्धान्त कर्मवाद की अपेक्षा उलटा है। अर्थात् कर्म करना नही, बल्कि कर्म न करना बन्धनकारी होता है। यदि कदाचित् पाप-कार्य करते हुए उसमें पूर्व सस्कारवश कुछ ग्लानि उत्पन्न हो जाये तो वह ग्लानि अवश्य उसके लिए बन्धनकारी हो जाती है, कारण यह कि वह अहकार की सन्तान है। अहंकार न होता तो ग्लानि उत्पन्न करने-वाले वे संस्कार कहाँ टिकते?

प्रभु-आज्ञा से युद्धस्थल मे अश्वत्थामा मारा गया,—ऐसा असत्य-भाषण करते हुए सत्यवादी महाराज युधिष्ठिर कुछ झिझक गये, क्योकि उन्हे अपने सत्य की रक्षा इष्ट थी। लौकिक न्याय से युक्त होते हुए भी उनकी यह इष्टता अहकारजन्य होने के कारण उनके लिए बन्धनकारी हो गयी, जिसके फलस्वरूप उन्हे थोड़ी देर के लिए नरक का द्वार देखना पड़ा। नरक-वास के भय से गोपिकाएँ अपने प्रभु के मस्तक पर चढ़ाने के लिए अपनी चरण-रज न दे सकी, इसीलिए अपूर्ण रह गयी। दूसरी ओर राधिका ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए निर्भय होकर दे दी, इसीलिए पूर्ण हो गयी। यहाँ भी अहंकार अथवा अहंकारजन्य कामना ही बन्धनकारी हुई।

अहंकार तथा तज्जन्य कामना का अभाव हो जाने के कारण तत्व निष्ठ अन्तर्मुखी 'अहं' के लिए न है कुछ पुण्य-पाप, न है बन्ध मोक्ष। सदेह रहना भी उसके लिए ऐसा ही है, जैसा कि विदेह होना। इस लोक में रहना भी उसके लिए ऐसा ही है, जैसा सिद्धलोक में रहना। कलियुग भी उसके लिए ऐसा ही है, जैसा कि सत्ययुग। शरीर छोडकर सत्ता में व्याप जाना भी उसके लिए ऐसा ही है, जैसा कि शरीर में बद्ध रहना, क्योंकि अन्तरंग से तो वह व्यापक है ही। आवश्यकता पडने पर लोक-सग्रहार्थ पाप-कार्य करना भी उसके लिए वैसा ही है, जैसा कि पुण्य कार्य करना। वह रहता है हर अवस्था में मुक्त, सकल बन्धनो से मुक्त, सकल विधि विधानो से मुक्त, लौकिक विधि विधानो से भी और धार्मिक विधि विधानो से भी। जगत् के सब कार्य करता हुआ भी वह है उनसे अलिप्त, सकल भोग भोगता हुआ भी वह है उनसे अस्पृष्ट, विधि निषेध के सकल द्वन्द्वो से अतीत। और यही है उसका मुक्ति-कौशल। ●

३९ स्वच्छन्द निरास

हो गया सब कुछ चौपट! क्या आवश्यकता रह गयी अब शास्त्रो की तथा उनके विधि विधानो की? तोड डालो सब मन्दिर और छोड दो व्रत। हो जाओ स्वच्छन्द और उडाओ गुलछर्रे खूब ऐश के साथ। ये तो हैं सब बन्धन। क्या आवश्यकता है मोक्षकामी को इनकी? बलिहारी जाऊँ तेरे, कितनी स्वतन्त्रता दे दी है तूने। दोनो हाथ लड्डू। इस लोक में मौज उडाओ और परलोक में मोक्ष पाओ। यही तो कह रहे हैं ज्ञानी। हमें भी तो ज्ञानी बनना है अज्ञानी थोडे ही रहना है। अब हम भी तो ज्ञानी हैं, अज्ञानी थोडे ही हैं। लादा करें लोक के अज्ञानी जन विधि विधानो का भार अपने सिर पर। हमें क्या पडी है इस चक्कर में पडने की? हम तो मुक्त हो गये हैं न इन सबसे, सुनकर ज्ञानियो का उपदेश?

शान्त हो प्रभु, शान्त हो। सम्भल! नीचे मत गिर। देख कितना गहरा है यह गर्त, और कितने पडे सिसक रहे हैं इसमें। पछता रहे हैं अपनी भूल पर और प्रतीक्षा कर रहे हैं गुरु की, जो निकाल सके उनको बाह पकड-कर वहा से। भैया! इतना कुछ कहने से पहले यह तो सोच लिया होता कि कहीं झूठ तो नही बोल रहा है तू? क्या वास्तव में ज्ञानी है तू अथवा जीवन्मुक्त है तू? क्या वास्तव में 'अहं' विकास के चरम स्तर पर पहुँच चुका

तू ? क्या वे सब लक्षण प्रकट हो चुके हैं तेरे भीतर ? क्या वास्तव में हो चुका है तेरा 'अहं' व्यापक, तोड़कर अपनी सर्व परिधियों को ? क्या वास्तव में तेरे भीतर नही रह गये हैं कोई कामना या विकल्प ? क्या वास्तव में शरीर मन वाणी तथा यह सारा जगत् असत्य भासने लगा है तुझे ? क्या सचमुच तू इन सबमें सर्वत्र करने लगा है प्रभु-दर्शन ? क्या सचमुच देखने लगा है तू अपने में सबको और सब में अपनी सत्ता ? क्या वास्तव में दिखाई देने लगे हैं तुझे सब आत्मज, और क्या वास्तव में जागृत हो गया है तेरे हृदय में सबके प्रति प्रेम, माता की भाँति ?

यदि नही, तो फिर क्यों झूठ-मूठ अपने को 'ज्ञानी' कह रहा है या समझ रहा है ? इस झूठ से तेरा क्या लाभ होगा और किसी अन्य को क्या हानि होगी ? स्वयं अपनी ही हानि करेगा। अपने पाँव में आप कुल्हाड़ी मारेगा। झूठ-मूठ अपने को 'मुक्त' कहने से या मानने से तो तू मुक्त होने से रहा। रहेगा तो वही जो वास्तव में तेरा स्तर है, तेरी भूमिका है। दूसरो को धोखा दे सकता है झूठ बोलकर या झूठा ? दिखावा करके ! अपने को धोखा कैसे देगा ? तू तो स्वय जानता ही है कि तू वास्तव में क्या है ! शास्त्रों से या ज्ञानी जनों से उधार ली गयी बातें कहने मात्र से तो तू वैसा बनने से रहा। बनने से ही बना जाता है, कहने से नही।

ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण जन ही मुक्त होते हैं राज्य के विधान से, सारी प्रजा नही, भले ही राज्यनीति के विषय में जानती हो वह बहुत कुछ। यदि वह भी हो जाये या कर दी जाये मुक्त, तो तू स्वयं ही सोच ले कि क्या गति हो तेरी तथा तेरे देश की। क्या अराजकता में भी कोई जी सकता है चैन से या सुरक्षित रह सकता है शत्रु के कोप से ? इसी प्रकार पूर्णकाम ज्ञानी जन ही मुक्त होते है शास्त्रोक्त विधि-विधानो से, साधारण जन नही, भले ही शास्त्रज्ञ हों वे, प्रकाण्ड विद्वान हों वे। वहाँ तो रहता है तुझे राजा का भय कि अन्याय से बर्तूँगा तो बन्दी बना लिया जाऊँगा और दण्ड पाऊँगा, पर यहाँ क्या तुझे परमात्मा का भय नही है, अथवा स्वय अपना भय नही है, कि स्वच्छन्द होकर विषय-सेवन करूँगा तो अवश्य कामनाओ के बन्धन में पड़कर तड़फड़ाना पड़ेगा, मन क्षुब्ध हो जायेगा और बुद्धि मारी जायेगी ! हिताहित के विवेक से शून्य कैसे बन पायेगा भूमा तू, कैसे प्राप्त कर पायेगा व्यापक आनन्द तथा प्रेम तू ?

भैया ! ऋषि-जनो के सूक्ष्म अभिप्राय को समझ। उन्होंने कोई भी बात व्यर्था नही कही है। जो कुछ भी कहा है, सब हित के लिए है। जिसकी जैसी

ग।
इसीलि
करते हु
अथवा अ

भूमिका है उसके लिए वैसा ही विधान किया है। अथवा यो कहिये कि अपनी अनुभूतियाँ ही बतायी हैं, कि अमुक भूमिका में मैंने ऐसा ऐसा किया था।

निचली भूमिकावाले को अपने घर का विवेक नही होता, इसलिए ज्ञानी तथा विवेकी-जनो द्वारा निर्धारित विधि विधानो को पूरी श्रद्धा तथा ईमानदारी से अपनाने में ही उसका कल्याण है। भूमिका के बढते रहने पर धीरे धीरे उसकी बुद्धि स्वय विकसित हो जाती है, उसे सत्त्व शुद्धि प्राप्त हो जाती है, जिसके द्वारा बिना गुरु तथा शास्त्र की सहायता के भी स्वतंत्र रूप से वह स्वय सत्यासत्य का अथवा हिताहित का विवेक करने के लिए समर्थ हो जाता है। ज्यो ज्यो उसका यह विवेक बढता जाता है त्यो-त्यो कल्याण तथा मुक्ति का मापदण्ड भी उसके लिए बदलता जाता है। वह जाता रहता है बाहर से भीतर की ओर, और इसीलिए ढीले पडते जाते हैं उसके पूर्व विधान। चरम भूमिका में पहुँचने पर वह स्वय बन जाता है भूमा। वहाँ कैसे रह सकती है उसे किसी भी विधि विधान की आवश्यकता ?

इस विषय में यहाँ यह शका भी युक्त नही है कि मन के समाहित हो जाने पर भी शास्त्रीय विधि विधानोको छोडने की क्या आवश्यकता है ? क्योकि भैया यहा कोई ऐसा नियम थोडे ही किया जा रहा है कि वे सवथा छूट ही जाने चाहिए ? यहा तो केवल उसकी स्वतन्त्रता बतायी जा रही है। वे रहे या छूटें-उसकी उसे पर्वाह नही। यदि वे सहज रूप से रहते हैं, तो है। उसे उनको छोड देने का कोई पक्ष नही है। यहा केवल इतना बताना इष्ट है कि यदि वे रहते हैं तो पहले की भाति व्रत रूप या हठ रूप से नही रहते। इसलिए आवश्यकता पडने पर वे छूट भी जाते है। 'ऐसा करना चाहिए और ऐसा नही करना चाहिए', ये सब विकल्प है। भूमा को क्या आवश्यकता पडी है भला इस प्रकार विचारने की ? सहज रूप से प्राप्त हो गया, सो ही कर लिया।

दूसरी बात यह भी है कि शास्त्रोक्त विधि-विधान मनुष्यकृत हैं और इसलिए 'अह' के स्वभाव नही बन सकते अथवा उसकी प्रकृति में प्रवेश नही कर सकते। उसकी अपनी प्रकृति स्वतन्त्र है जो बराबर ऊपर उठती जा रही है। प्रकृति के अनुसार रहने तक वे उसके लिए रुचिकर तथा उपकारी रहते हैं। भूमिका के साथ-साथ प्रकृति के बदल जाने पर वे ही उसके लिए व्यर्थ का भार तथा बन्धन बन बैठते हैं।

तू उल्टी युक्ति सोचकर नीचे गिरने की ओर क्यो उन्मुख होता है नीचे-नीचे के सोपान को छोडता हुआ ऊपर ऊपर सोपान पर पग रख, जिस कि तेरा कल्याण हो।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

'हे भद्र, अपनी आत्मा को अपनी आत्मा के द्वारा ऊपर उठा, इसे नीचे न गिरा। आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। जिसके द्वारा विषय वासनाओं और कषायों में लिप्त अपनी आत्मा को जीत लिया है, वह अपनी आत्मा का मित्र है और जो अपनी आत्मा के साथ शत्रु की भाँति व्यवहार करता है वह अपनी आत्मा का शत्रु है, अर्थात् जो गुरुजनों की कल्याणकारी बात सुनकर भी कुयुक्तियों के द्वारा अपने वैषयिक जीवन की ओर ही झुकता है, वह अपना शत्रु है।'

ठीक है कि चरम भूमिका पर स्थित यह 'अहं' ऊपर से देखने पर किसी शिशु की भाँति अथवा किसी स्वच्छ मनुष्य की भाँति सर्वथा निरर्गल तथा स्वच्छन्द हुआ दीखता है, परन्तु इन दोनों की निरर्गलता मे आकाश पाताल का अन्तर है, जिसकी परीक्षा भीतर मे है न कि बाहर में। शिशु की निरर्गलता अज्ञानज तथा अविवेकज है और इसकी ज्ञानज तथा विवेकज। स्वच्छन्दाचारी की स्वच्छन्दता कामनाओं की अधीनतावश है और इसकी आत्माधीनतावश है। पहला इसलिए स्वच्छन्द है कि उस बेचारे को कामनाओं तथा विकल्पों की विपाक्त वेदना का पता नहीं और यह इसलिए स्वच्छन्द है कि इसे कुछ विकल्प ही नहीं। इसीलिए पहले की स्वच्छन्दता है विष-कुम्भ और दूसरे की है अमृत-कुम्भ।

निचली भूमिका में स्थित व्यक्ति यदि झूठ-मूठ अपने को ऊपरवाली भूमिका का मानकर, बन्दर की भाँति उसकी नकल करने लगे तो सर्वनाश के अतिरिक्त और क्या हाथ आयेगा उसके ? सिंह की खाल ओढ़ने से क्या गधा सिंह बन जाता है ? अतः अपनी भूमिका का ठीक-ठीक निर्णय करके ऊपर-ऊपर चढ़ने का प्रयत्न कर। व्यर्थ नीचे गिरकर स्वयं अपना नाश करने की क्यों तैयारी कर रहा है ? सम्भल ओ 'अहंकार' ! समझ और सम्भल, यह सब आवाज़ कल्याण की नहीं है, बल्कि मन की गहराइयों में स्थित उसी कामना की है जो इस जगत् को विषयो मे लुभा-लुभाकर खाये जा रही है।

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती च।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविग्रप्पो होइ विसकुंभो ॥ ३०६ ॥

अप्पडिकमणमप्पडिसरण अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिदणगरहा सोहो अमयकुभो ॥ ३०७ ॥

'अतीत दोषो का पश्चात्ताप, गुणो के प्रति प्रेरणा, दोषो का परिहार, विषयो से निवृत्ति, ध्यान, धारणा, आत्मनिन्दा, गुरु के समक्ष निज दोषो को प्रकट करना, तथा प्रायश्चित विधान के अनुसार दोषो का शोधन करना,' ये आठ प्रकार के विकल्प यद्यपि मध्यम भूमिका मे अमृत-कुम्भ कहे गये हैं, तदपि अन्तिम भूमिका मे ये सब विष-कुम्भ हैं। इन सबका अभाव ही वहाँ अमृत कुम्भ है।

इनके अभाव का यह अर्थ नही कि वह इनको जान-बूझ कर छोड देता है, प्रत्युत यह है कि उसके हृदय मे कोई पक्ष नही रह जाता। 'महाजना येन गता स पन्थ'—इस न्याय के अनुसार व्यवहार भूमि पर वह जहाँ तक बन सके, इनका अनुसरण ही करता है, इसलिए नही कि उसकी दृष्टि मे इनका कुछ मूल्य है, प्रत्युत इसलिए कि मुझे आदर्श मानकर कही जगत् इन्हें न छोड बैठे, और इस प्रकार उसका जीवन उनके पतन का हेतु हो जाय।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्य त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यह वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रित ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वश ॥

हे अर्जुन। तू जानता ही है कि मेरे लिए तीनो लोकों म कुछ भी कर्त्तव्य नही है, और न ही मेरे लिए कुछ अप्राप्त है, जिसकी प्राप्ति के लिए कि मुझे कुछ करने की आवश्यकता पडे, तब भी मैं नित्य अपने करने योग्य सकल कार्य किया करता हूँ। यदि मैं इस प्रकार निरालस्य होकर काम न करूँ तो जगत् के सारे मनुष्य जो सब प्रकार से मेरे अनुसार वर्तते हैं, वे सब भी अपने अपने कर्त्तव्य छोड बैठें और इस प्रकार उनका अध पतन हो जाय। •

४० रूढ़ि निरास

तो फिर क्या समस्त शास्त्रोक्त विधि विधान तथा कर्म निरर्थक हैं? भैया! यह श्रद्धा का विषय है, जिसका वास हृदय म है और जहाँ कृत्रिमता को अवकाश नहीं। अपनी अपनी भूमिकानुसार वह स्वय जैसी होती है, वैसी ही होती है। नीचेवाली श्रद्धा ऊपरवाली की ओर ऊपरवाली श्रद्धा नीचे

वाली की वात कैसे स्वीकार कर सकती है ? 'वे निरर्थक या सार्थक', इस विषय में मुझे या आपको कुछ कहने का अधिकार नही है।

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अनुग्रहवशात् जब गुरुजनों का प्रेमपूर्ण हृदय द्रवित हो जाता है, तो शिष्यजनों पर कृपा करके उनके कल्याणार्थ वे उनसे यह पूछ लेते है कि वह इन क्रियाओं को अथवा विधि-विधानों को किस अभिप्राय से कर रहा है या करना चाहता है—ख्याति, लाभ, प्रतिष्ठा की कामना से, या प्रभु की कामना से। मुख से वताने का प्रयत्न न कीजिये, क्योंकि वताने में लज्जा, भय, गौरव आदि अनेक वातें मार्ग में आड़े आ सकती हैं, जो हृदयगत सत्य पर परदा डालने का मिथ्या प्रयास किया करती हैं। अत: स्वयं अपने हृदय को टटोलिये। जिस कामना से भी वे की जा रही हैं, वह अवश्य पूर्ण होगी। ख्याति की कामनावाले को मिलती है ख्याति और प्रभु की कामनावाले को प्रभु।

यहाँ इतना विशेष है कि हृदय लोक मे प्रवेश न कर पाने के कारण इन क्रियाओं में साक्षात् रूप से तो प्रभु की प्राप्ति करा देने की सामर्थ्य नही है, परन्तु वाह्य वृत्तियों को संकुचित करके उन्हें अन्तर्मुखी करने में अवश्य ये 'अहं' की कुछ सहायता कर सकती हैं, और इसीलिए सर्वजन-हितैषी गुरु-जनों ने यत्र-तत्र इनका उपदेश किया है। इन क्रियाओं का यह सहायक वनना भी तभी सम्भव है, जव कि वे सत्य-भावना से की गयी हों। ख्याति की कामना से की गयी तो वे उतना कुछ भी करने को समर्थ नही हैं, उल्टा अहंकार को पुष्ट करके अनर्थ ही किया करती हैं।

इतना ही नही, सत्य भावना से की गयी भी वे अनर्थकारी हो सकती हैं, यदि ऊपर को भूमिका में प्रवेश पा जाने पर भी उनको लज्जा, भय, गौरव आदि के वशीभूत होकर पकड़े ही रखा जाय। जिस प्रकार रोग के शान्त हो जाने पर भी यदि रोगी औषधियो का सेवन वन्द न करे तो वह औषधि ही उसके रोग का हेतु वन जाती है; उसी प्रकार चित्त-शुद्धि का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर भो यदि साधक इन क्रियाओं के प्रति उपेक्षा नही करता है, तो ये क्रियाएँ ही विकल्प वनकर उसके सिर पर सवार हो जाती हैं, जिससे उसकी आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग रुक जाता है। इस अवस्था मे वे दम्भ वनकर उसके अहकार को और भी अधिक पुष्ट कर देती हैं।

दूसरी वात यह भी है कि ज्ञानीजनो ने इन क्रियाओं का विधान देश काल के अनुसार अथवा साधक की प्रकृति, शक्ति तथा स्थिति के अनुसार किया था। जिससे कि सुविधापूर्वक इसका पालन किया जा सके। अत: इन विधि-

विधानो की स्थापना मे गुरुजनों का अभिप्राय मुमुक्षुओ के जीवन को ऊपर उठाने का है, न कि उसे जटिल बनाने का। इसलिए देश काल के अनुमार इन विधि विधानो मे भी आवश्यक परिवतन होता रहा है और होना चाहिए। देश काल के बदल जाने पर अथवा साधक की प्रकृति आदि बदल जाने पर ये क्रियाएँ भी तदनुमार अवश्य बदल जानी चाहिए।

यदि इस तथ्य की ओर से आँखें मूद ली जायें, और देश, काल तथा प्रकृति, शक्ति, परिस्थिति के बदल जाने पर भी, क्रियाओ मे तदनुसार परिवतन करने के बजाय उनका पक्ष पकडे रहा जाय, तो वे निष्प्राण होकर रूढि बन जाती हैं, जिसका प्रयोजन लोक दिखावे के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। उनका सहज पालन असम्भव हो जाने के कारण इस अवस्था म साधक को अनेक प्रकार की कृत्रिमताओ का आश्रय लेना पडता है, जिससे उसके जीवन पर जटिलता का भार लद जाता है और उसके हृदय की सरलता नष्ट हो जाती है। बन्द हो जाता है उसके लिए प्रभु-प्रेम का द्वार और उसके स्थान पर आ घमकते हैं—काम, क्रोध तथा अहकार, जो चौपट कर डालते हैं हृदय के पवित्र राज्य को। इस प्रकार अमृत भी बन जाता है विष।

य सभी विधि विधान साधक हैं या निरथक, इसका उत्तर यही हो सकता है, कि पहली-पहली भूमिकाओ मे जो बातें साधक हुआ करती हैं, वही अगली-अगली भूमिकाओ मे निरथक हो जाया करती हैं। अत किसी के लिए ये साधक हैं और किसी के लिए निरथक ही नही अनथक भी। अब आप अपनी भूमिका के अनुसार जो भी उचित समझें करें। परन्तु यदि भी किंचिन्मात्र असत्य बैठा हो तो उसे निकालने का प्रयत्न करें, क्योकि असत्य तथा प्रभु इन दोनो मे परस्पर विरोध है। प्रभु करें कि सभी की भूमिका ऊँची उठे। वे हम पर दें कि हम ऊपर उठ कर सहज इतना भार सिर से उतार फेंकने मे समथ हो सकें। कहने का तात्पय यह कि ऊपर उठ कर भी इन्हे गले का हार बनाये रखने का प्रयत्न न करें। लज्जा, भय तथा गौरव-वशात् उनको हठ पकड कर स्वय अपने सिर पर विकल्पो का भार न लादें।

आचार विचार अथवा धर्म विषयक इस प्रकरण मे मेरे जैसे अहकारी व्यक्ति को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं। जब ज्ञानी जनो से पूछने जाता हूँ तो व इतना ही कहते हैं कि 'भैया, क्या तू मुनस वह कुछ सुनने की आशा करता है जिसम कि पहले से ही यह सारा जगत् उलझा पडा है?' भले किसी अश मे यह सब सत्य हो, और किन्ही भूमिकाओ के लिए कायकारी तथा

उपकारी हो, परन्तु वह अंश उन्नत तथा मध्यम भूमिका के लिए इतना तुच्छ है कि उसका कथन करते भी मुझे लज्जा-सी आती है।"

जो वात सर्व-परिचित है, उसको पुनः-पुनः कहना पिष्टपेषण मात्र होने के कारण ज्ञानीजनों के लिए उपहास का स्थान है। जो वात पहले से सिद्ध है, उसे पुनः-पुनः सिद्ध करने के प्रयास को नैयायिक लोग सिद्धसाधन दोष-युक्त मानते है। जो वात पहले ही आवश्यकता से अधिक पुष्ट है, उसे पुनः-पुनः कहकर और अधिक पुष्ट करना कहाँ तक कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है? और भी अधिक घनीभूत होकर वह इतनी कठोर हो जायेगी कि हजार वार समझ लेने पर भी व्यक्ति उसके पक्ष को छोड़ न पायेगा। वह ऊपर उठने के वजाय वहीं लटका रहेगा, अथवा दम्भी वनकर नीचे गिर जायेगा। इसलिए 'सव ऊपर उठें' ऐसी पवित्र भावना से युक्त ज्ञानीजन, भला उसे ही पुनः-पुनः कहने की भूल कैसे कर सकते हैं?

अतः भैया! विधि-विधानों के चक्कर से ऊपर उठ कर तू अव अपने भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न कर, और वहाँ देख कि किस प्रकार यह कामना वैठी हुई तेरा सव कुछ चौपट किये जा रही है—वाह्य पुरुषार्थ को भी और आभ्यन्तर पुरुषार्थ को भी। प्रभु की शरण ही है सरल तथा सर्वोत्तम साधन उसकी प्राप्ति का। ८

४१. विष भी अमृत

अरे रे, कितनी अनर्थकारी है यह कामना! सव किये-कराये पर पानी फेरे जा रही है यह, सव पुरुषार्थ विकल किये जा रही है यह। यही तो है वह देवकन्या उर्वशी जो किया करती है—विश्वामित्र जैसे महातपस्वियों की तपस्या किरकिरी।

देखिये, कितनी चातुर्यपूर्ण है इस अहंकार की वकालत। अपना दोष दूसरे के गले मढना खूब जानता है यह। अरे भैया! प्रभु के राज्य में कुछ भी अनर्थकारी नही। सभी उसकी विविध विभूतियाँ है, भले ही हों वे भक्ति तथा योग और भले ही हो वे कामना तथा भोग। कितना अच्छा होता यदि प्रभु की सृष्टि को दोष देने के वजाय तू अपने को ही कोसता, जो कि वना देता है सार्थक को अनर्थक, मंगला को कंगला।

त्या

सम दृष्टि से देखने पर इसकी सृष्टि मे गुण दोष का कोई भेद ही नही है, यहाँ सब एक हैं। तू ही वह दुष्ट है, जिससे संयुक्त होकर गुण भी दोष बन जाता है, बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार शरीर से संयुक्त होकर सुगन्धित अन्न भी दुर्गन्धित मल बन जाता है।

जीवन की सभी शक्तियाँ प्रभु का अंश हैं और इसलिए सभी अमृत हैं। दोष केवल उनकी प्रयोग विधि मे है, उनको दिशा में है। बाह्य की ओर उन्मुख होने के कारण जो शक्तियाँ विष प्रतीति होती हैं, अन्दर की ओर झुकने पर वे ही अमृत बन जाती हैं। दूसरों के प्रति किया गया क्रोध यदि कदाचित् तू अपने ही प्रति कर ले तो देख किस प्रकार क्षमा का रूपधारण करके अमृत बन जाता है वह! परन्तु कर कैसे ले? तू तो देख रहा है अपने को प्रभु से पृथक् और अन्य सब व्यष्टियों से पृथक्! दूसरों को तुच्छ देखने-वाले संकीर्ण अभिमान के द्वारा यदि कदाचित् तू उस अभिमान का ही तुच्छ देख ले तो देख कितना मृदु तथा विशाल बन जाता है वह। सहज झुक जाता है तब यह सबके चरणों में, उन्हें प्रभु रूप देखता हुआ।

इसी प्रकार नित्य तुच्छ विषयो की परिक्रमा करती रहनेवाली संकीर्ण वासना के द्वारा यदि तू प्रभु की परिक्रमा करना सीख ले, तो देख कितनी महान् बन जाती है वह! स्वार्थपूर्ण लोभ का रूप छोड़कर सहज प्रेमपूर्ण ममता तथा सन्तोष का रूप धर लेती है वह। बाह्य विषयों की पूर्ति के अर्थ किये गये संकीर्ण तथा मायावी प्रयत्न को यदि तू प्रभु-प्राप्ति की ओर मोड़ ले तो देख कितना महान् तथा व्यापक बन जाता है वह। सहज ही वक्रता बदल जाती है सरलता में, आर्जव में। इसी प्रकार अन्य सब शक्तियाँ भी।

जिस प्रकार स्वप्न भग हो जाने पर वह स्वप्न-जगत् द्रष्टा में लीन होकर पुन एक हो जाता है अथवा जिस प्रकार घट टूट जानेपर घटाकाश महाकाश में लीन होकर पुन एक हो जाता है, उसी प्रकार तेरी संकीर्ण परिधि के नष्ट हो जाने पर अथवा व्यापक हो जाने पर अहंता इदंता में लीन होकर एक हो जाती है। अद्वैत मे द्वैत उत्पन्न कर देनेवाले इस विभाग के कारण ही तू अनुभव करने लगता है, प्रभु की व्यापक दैवी शक्तियों को संकीर्ण आसुरी शक्तियों के रूप में, अमृत को विष के रूप म। तेरी यह संकीर्णता नष्ट हो जाने पर अथवा व्यापक हो जाने पर तू स्वयं ही अनुभव करने लगता है विष का अमृत के रूप में। ●

४२. समता

वहिर्मुखी 'अहं' का धर्म भी है अधर्म, क्योंकि उसकी सीमा है केवल शास्त्र-विहित विधि-विधानों तक, विना इस बात की परवाह किये कि उसके अपने भीतर भी कुछ परिवर्तन हो पाया है या नहीं। दूसरी ओर अन्तर्मुखी 'अहं' का स्वच्छन्दाचरण भी है धर्म, क्योंकि वह दर्शन करता है प्रभु के विधि-विधानों का इस सकल विश्व मे और निर्णय करता है वहाँ से अपने धर्म का, विना इस बात की परवाह किये कि शास्त्र-विहित उन क्रियाओं का पालन उससे वन पा रहा है या नहीं।

वहिर्मुखी 'अहं' के धर्म का अर्थ है कुछ रौढ़िक क्रियाएँ और अन्तर्मुखी 'अहं' के धर्म का अर्थ है स्वभाव—अपना स्वभाव, इन व्यष्टियों का स्वभाव तथा इस अखिल विश्व का स्वभाव। प्रकृति के विधान को देखकर वह निर्णय करता है इस स्वभाव का समता के रूप मे, क्योंकि इस विश्व मे उसे सर्वत्र दिखाई देती है समानता। कार्य का स्वभाव सदा कारण के अनुसार होता है, इसलिए इन सकल व्यष्टियों का स्वभाव इस समष्टि के अनुसार ही होना चाहिए। इस विशाल समष्टि मे उसे दीखता है सर्वत्र एक ही नियम, एक ही विधि, एक ही विधान।

वाह्य तथा आभ्यन्तर जगत् के ये समस्त नाम रूप तथा कर्म स्पन्द की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं और उनका वैचित्र्य स्पन्द की तरतमता का फल है। स्पन्द ही जड़ है और स्पन्द ही चेतन। स्पन्द ही राग है और स्पन्द ही द्वेष। समष्टि की अध्ययेता इस विशाल दृष्टि मे कहाँ टिक सकता है कोई द्वन्द्व या भेद—इष्ट अनिष्ट का, शत्रु मित्र का, महल मसान का, स्वर्ण पाषाण का, सुख दुःख का, जन्म मृत्यु का, सृष्टि प्रलय का, लाभ हानि का, प्रशंसा निन्दा का, पुरुष स्त्री का, वालक बूढ़े का, ब्राह्मण शूद्र का, जड़ चेतन का, परमाणु जीवात्मा का, राग द्वेष का, स्वार्थ प्रेम का, क्षमा क्रोध का? सवको स्पन्द रूप देनेवाली उसकी दृष्टि में कहाँ रह सकता है भेद कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का, हेय उपादेय का, गृहस्थ संन्यास का, पुण्य पाप का, धर्म अधर्म का। उसकी दृष्टि में न है कोई इष्ट न अनिष्ट और इसी प्रकार न धर्म न अधर्म। इष्ट भी अनिष्ट है और अनिष्ट भी इष्ट। धर्म भी अधर्म है और अधर्म भी धर्म। उसके

विधान मे है सवत्र समानता, सवत्र समता। और इसलिए यही है स्वभाव, यही है धम सबका और मेरा भी।

समष्टि मे दीखनेवाली यह विराट् गति तथा भाग-दौड उसे यह उपदेश देती प्रतीत होती है कि विपमता अधम है, और समता धम, विपमता विभाव है और समता स्वभाव। यह समस्त भाग दौड वास्तव मे विपमता मिटाकर समता की प्राप्ति करने के लिए है। विपमता से होता है क्षोभ और समता से होती है शान्ति।

सागर का जल सूय के द्वारा वहा से उठाकर पवता पर फेंक दिया गया, जिससे कि उसका समतल भग हो गया। अब दौड रहा है वह, नदियो के रूप मे उसी सागर की ओर, अपना वह समतल पुन प्राप्त करने के लिए। क्यो न दौडे, स्वभाव है न वह उसका, उसके बिना रह कैसे सकेगा वह ?

इसी प्रकार सूर्य की निकटता दूरता के कारण पृथिवी का तापमान विषम हो गया, कुछ प्रदेशो का तापमान बढ गया और कुछ का रह गया कम, और तदनुसार वहाँ वहा की वायु भी। दौड रही है अब वह एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर, अपना तापमान समान करने के लिए। अथवा वायु के दबाव मे अन्तर पड गया। शीत प्रदेश की वायु हो गयी भारी और उष्ण प्रदेश की हो गयी हल्की। दौड रही है अब वह एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर, अपने दबाव को पुन सतुलित तथा समान करने के लिए।

सूर्य की इस निकटता तथा दूरता के कारण ही वृष्टि मे अन्तर पड गया। किन्ही प्रदेशो म वृष्टि अधिक होने लगी और किन्हीं मे कम। वृष्टि के अन्तर से भूमि की उर्वरा शक्ति मे तथा उसके कारण अन्नादि की उत्पत्ति मे अन्तर पड गया। परिणामत कुछ प्रदेश हो गये अधिक समृद्ध तथा सपन्न और कुछ रह गये कम। इसी प्रकार कुछ मे जनसख्या हो गयी अधिक और कुछ मे रह गयी कम। इन प्राकृतिक विपमताओं के कारण प्रदेशो की परिस्थितिया म तथा तदनुसार वहाँ-वहाँ की सस्कृतियो मे अन्तर पड जाना स्वाभाविक है। अब मची है सर्वत्र अफरातफरी, हो रहे हैं युद्ध इन सब विपमताओ को दूर करके सम होने के लिए।

स्पन्द के कारण परमाणुओ के दबाव म अन्तर पड गया। प्रोटोन हो गये भारी और अलेक्ट्रोन रह गये हल्के। दौड रहे हैं अलेक्ट्रोन उनके प्रति, इस विपमता को पुन सम करने के लिए।

इसी प्रकार व्यष्टि मे भी। स्वार्थ की तरतमताओ के कारण कुछ व्यक्ति

हो गये बुद्धिमान् और कुछ रह गये मूर्ख तथा निर्धन। कुछ को सम्मान अधिक प्राप्त हो गया और कुछ को हो पाया कम। लड़ रहे हैं वे परस्पर में, गिराने का प्रयत्न कर रहे हैं एक-दूसरे को नीचे, इस विषमता को दूर करके पुनः सम हो जाने के लिए।

उपर्युक्त कारणों का निमित्त पाकर बहिर्मुखी 'अहं' के भीतर उत्पन्न हो गये विविध द्वन्द्व इष्ट अनिष्ट के, राग द्वेष के, पुण्य पाप के, प्रेम स्वार्थ के, लोभ सन्तोष के, क्षमा क्रोध के इत्यादि। भगदड़ मची अब इनमें और बेचैन हो गया है यह 'अहं' इस विषमता को दूर करके पुनः समता प्राप्त करने के लिए।

बहिर्मुखी 'अहं' की समता भी है विषमता, क्योंकि वह करता है प्रयत्न उसकी प्राप्ति का बाहर मे; कुछ पदार्थों को अपनी साधना के अनुकूल समझते हुए उन्हे ग्रहण करके और कुछ को प्रतिकूल समझकर उनका त्याग करके; किसी व्यक्ति को धर्मात्मा समझ कर उससे प्रेम करके और किसी को पापी समझकर उससे किनारा करके; बिना इस बात की चिंता किये कि अनुकूलता तथा प्रतिकूलता की यह बुद्धि ही तो है विषमता। इसके द्वारा समता कैसे प्राप्त होगी ?

अन्तर्मुखी 'अहं' की विषमता भी है समता, क्योंकि यह देखता है बाह्य तथा आभ्यन्तर जगत् का सत्य-स्वरूप, और इसलिए रहता है उनमें सर्वत्र सर्वदा सम। न उसे दीखता है कुछ अनुकूल न प्रतिकूल, न धर्मात्मा न पापी। वह रहता है बिलकुल हल्का। जो जब जैसा मिला, ग्रहण कर लिया और जो जब जैसा प्रसंग आया, काम कर लिया। अपनी तरफ से वह न करता है किसी का ग्रहण, न त्याग। और यही है उसके सत्य-धर्म का स्वरूप—समता।

४३. प्रेम

और आगे चलने पर समता का रूप बन जाता है प्रेम। विषमता है क्षुद्र, क्योंकि वहाँ रहता है द्वैत तथा भेद। इस द्वैत में अद्वैत देखना, भेद में अभेद देखना और विषमता मे समानता देखना समता का लक्षण है। दूसरी ओर प्रेम है अति महान्, निरस्त हो जाता है समस्त भेद जहाँ, समानता बन जाती है एकता जिसमें। वास्तव में समता प्रेम से कुछ पृथक् नही, प्रेम का

ही पूर्व रूप है अथवा प्रेम के लिए ही है। प्रेम उसका ही पूर्ण रूप है, उसकी पराकाष्ठा है। यह रहस्य भी प्रकृति स्वय बता रही है।

समता प्राप्ति के लिए उत्पन्न हुई जल की भाग-दौड हो जाती है समाप्त, जब घुलमिलकर एक हो जाता है वह सागर के साथ। वायु की भाग-दौड भी हो जाती है बन्द, जब कि दोनो वायु मिलकर हो जाते हैं एक। युद्ध भी हो जाते हैं शान्त, जब कि धन, जन गणना और सस्कृतियाँ घुल मिल्कर हो जाती हैं एक। भीतर के राग द्वेषादि द्वन्द्व भी हो जाते हैं नि शेष, जब कि यह 'अहं' अपनी क्षुद्र सत्ता को समष्टि मे डुबाकर स्वय हो जाता है भूमा।

अन्य प्रकार से भी प्रकृति मा दे रही है उपदेश इस प्रेम का समष्टि में अपनी सत्ता लीन कर देने का। बिन्दु जा रहा है दौडा हुआ सागर पर मुग्ध हुआ, उसमे अपनी सत्ता विलीन करने के लिए। पतग जा रहे हैं उडे हुए दीप शिखा पर मुग्ध हुए उसम अपनी सत्ता लीन करने के लिए। परमाणु जा रहा है दूसरे परमाणु पर मुग्ध हुआ, उसमे अपनी सत्ता लीन करने के लिए। प्रमी जा रहा है अपनी प्रेमिका पर मुग्ध हुआ, उसमे अपना सर्वस्व लीन करने के लिए। इसी प्रकार भक्त जा रहा है भगवान् पर मुग्ध हुआ, उसके चरणो मे आत्म समर्पण करके अपनी सत्ता का मान खोने के लिए। सभी व्यष्टियाँ जा रही हैं स्वय मृत्यु की गोद मे खो जाने के लिए। वहिर्मुखी 'अह' के लिए यह मृत्यु है नाश, परन्तु अन्तर्मुखी 'अह' के लिए है यह निमग्नता लीनता, प्रलय, प्रेम।

भौंरा बैठ गया है कमल के मध्य, उसकी सुगन्धि मे अपनी सत्ता लीन करने के लिए, बिना इस बात का विचार किये कि कमल के मुँद जाने पर उसे घुटकर निष्प्राण हो जाना पडेगा। मृग दौडा जा रहा है राग पर मुग्ध हुआ, बिना इस बात की परवाह किये कि शिकारी उसे पकडकर निष्प्राण कर देगा। इसी प्रकार योगी बैठा हुआ है समाधि मे, अपनी चित्तवृत्तिको समष्टि चेतना मे लीन करने के लिए। और भी इसी प्रकार के अनेक दृष्टान्त 'आनन्द दर्शन' वाले अधिकार म पहले दिये जा चुके हैं।

अहा हा! प्रेम, सर्वत्र प्रेम। बाहर तथा भीतर सवत्र प्रेम का ही तो विलास हो रहा है यह। प्रेम करने के लिए ही प्रभु एक से अनेक हुआ जा रहा है। प्रेम विह्वल ये अनन्त पदार्थ एक दूसरे की परिक्रमा करते हुए नाच रहे हैं। और इस प्रकार प्रेम ही है धर्म की पराकाष्ठा, जिसमे जाकर लीन हो जाते हैं धर्म तथा अधर्म के समस्त द्वन्द्व।

प्रेम का वाच्यार्थ यहाँ लौकिक प्रेम नही है। यह हृदयगत एक अत्यन्त पवित्र तथा महान तत्त्व है। स्वार्थ-जन्य लौकिक प्रेम भी उसी की एक क्षुद्र स्फुरणा है। शरीर की संकीर्ण परिधि में वद्ध होकर जो स्वार्थ का रूप धारण कर लेता है, और अपनी परिधि को वढाता हुआ जो पत्नी तक जाकर प्रथम वार 'प्रेम' नाम पाता है, वही तत्त्व सन्तान में व्याप जाने पर वात्सल्य, मित्रो मे जाने पर सख्य, स्वामी में जाने पर दास्य, दुखियों में जाने पर दया, गुणी-जनों मे जाने पर प्रमोद, दुष्टों मे जाने पर माध्यस्थ्य, समाज में जाने पर सेवा, वृद्ध जनों मे जाने पर विनय, प्रभु मे अथवा गुरू में जाने पर भक्ति, सर्व प्राणियो मे जाने पर मैत्री, जड़-चेतन सभी व्यष्टियों मे व्याप्त हो जाने पर समता, और समष्टि में घुलकर लीन हो जाने पर ऐक्य अथवा अद्वैत कहलाता है।

इद्रिय-विपयों की सकीर्णता मे वद्ध होकर वही प्रेम वन जाता है राग, लोभ, कामना तथा इच्छा, जिसकी पूर्ति का उपाय ढूंढते हुए वही वन जाता है प्रयत्न तथा माया। सफल हो जाने पर वही वन वैठता है आशा तथा हर्ष और असफल हो जाने पर वही हो जाता है निराशा तथा शोक। सफलता मे वृद्धि हो जाने पर वही रूप धारण कर लेता है अभिमान का और विघ्न पड जाने पर क्रोध का। विपयों में अधिक आसक्त हो जाने के कारण दूसरों की सफलता तथा वृद्धि देखकर वही वन जाता है द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य तथा असहिष्णुता। सवको परे-परे धकेलता हुआ जो वन जाता है क्रोध, मान, माया तथा लोभ, वही व्यापक होकर सवको आत्मसात् करते हुए वन जाता है क्षमा, मृदुता, सरलता, आर्जव तथा सन्तोप।

कहाँ तक कहा जाय, वाहर तथा भीतर सर्वत्र एक प्रेम का ही विस्तार है। प्रशम, अनुकम्पा, आस्तिक्य, संवेग, निर्वेद, वैराग्य, संन्यास, तप, त्याग आदि सव इसी की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। विविधता, भूमिकाओ के अनुसार भीतरी स्पन्द की तरतमता में अन्तर पड़ जाने के कारण से है। प्रेम ही प्रभु का वह पवित्र रूप है, जिसका स्थान हृदय कहा गया है, मन वुद्धि नही। हृदयगत यह तत्त्व ही श्रद्धा का रूप धारण करके जीवन की वह प्रेरणा वनती है जो भीतर वैठी हुई व्यक्ति को अपने इशारों पर नचाती रहती है।

अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार व्यक्ति का हृदयगत यह प्रेम जितना व्यापक होता जाता है, उतना ही उसका धर्माचरण भी मँजता है, द्वैत से अद्वैत की ओर चलता जाता है, विषमता से समता की ओर प्रयाण करता जाता है; यहाँ तक कि उसकी पराकाष्टा प्राप्त हो जाने पर वह इन सकल व्यष्टियों में प्रभु का दर्शन करने लगता है, और इस प्रकार अपनी क्षुद्र सत्ता को उसकी महासत्ता में मिलाकर पूर्ण हो जाता है, भूमा वन जाता है।

५

समर्पण

ॐ

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ॥

'मैं ही यह पुरुष हूँ' इस प्रकार आत्मा को जान लेनेपर, फिर किस इच्छा से तथा किसकी कामना से शरीर को कष्ट दिया जाय।'

४४. बेचारा 'अहं'

अहा हा ! कितना सुन्दर है यह, कितना प्रिय है यह, प्रेम-धर्म ! कौन-सी क्या विधि अपनाऊँ इसे सम्भव बनाने के लिए ? क्या करूँ इस कल्पना को सत्य बनाने के लिए ? अरे अहंकार ! 'क्या करूँ' ऐसा बोलनेवाला तू स्वयं ही सोच कि कितना कुछ कर सकता है तू ! क्या तू नही जानता कि तेरा राज्य केवल शरीर, इंद्रिय, मन तथा बुद्धि तक ही सीमित है ? तुझे क्या पता कि इससे भी आगे एक और हृदय-राज्य है, जहाँ व्यापक प्रेम के रूप में प्रभु स्वय विराजमान है। क्या तू जा सकता है वहाँ ? क्या है तुझमे सामर्थ्य वहाँ पहुँचने की ?

भैया ! तू क्रियाएँ कर सकता है—कुछ शरीर से, अथवा चिन्तवन तथा मनन कर सकता है कुछ मन से, अथवा निश्चय कर सकता है कुछ बुद्धि से, अथवा इनकी सहायता द्वारा देख जान सकता है कुछ इंद्रियों से। परन्तु इतना कुछ कर लेने से क्या तेरा काम चल जायेगा ? क्या इस प्रकार तू हृदय में प्रवेश पाने योग्य हो जायेगा ? भैया ! क्या तू अपने हाथ से अपना गला घोंटने को तैयार है ? यदि नही, तो निराश होकर वापस लौट जा, क्योंकि अहंकार तथा प्रभु मे विरोध है।

तेरे जीवित रहते हृदय के द्वार खुल नही सकते, और शरीर, मन, वाणी के द्वारा कुछ भी करने से तू मर नही सकता। विपरीत इसके ऐसा करने से तू और भी अधिक पुष्ट हो जाता है, क्योकि देह मन वाणी ही तो तेरा अन्न है, जिसे खाकर तू जीवित रहता है ! बाह्य के इस त्रिविध राज्य मे कुछ भी करने से तू अभिमानी हो जाता है और अपने को तुच्छ समझने के बजाय अपने को महान और दूसरो को तुच्छ गिनने लगता है। 'मैं समझ गया हूँ तत्त्व' ऐसा मानकर तू अपने हृदय पर एक भ्रान्तिपूर्ण आवरण डाल देता है और उसके पीछे बैठे प्रभु चुपके-चुपके मुस्कराते रहते हैं अपने बच्चे की इस भोली भूल पर। अब तू ही बता कि क्या कर सकता है तू बेचारा अपने उपर्युक्त उद्देश्य मे सफल होने के लिए ?

परन्तु इतने उपदेश प्राप्त हो रहे हैं न मुझे इस विषय में, असंख्य शास्त्रों के द्वारा लिखित रूप में और ज्ञानीजनों के द्वारा वाणी रूप मे। ठीक है भैया !

सब कुछ ठीक है, उनमे मिथ्यापन कुछ भी नही है। वे ज्ञानी ऋषियो की निजी अनुभूतियाँ हैं, अत्यन्त मूल्यवान् तथा दुलभ, उनके द्वारा तो उन्हे तुझको केवल यह बताना इष्ट है कि ऐसा करने से वे स्वय वहाँ पहुँच पाये हैं, न कि यह कि तू भी बन्दर की भाँति उनकी नकल कर ले। और यदि पूरी श्रद्धा के साथ बलपूर्वक तू कदाचित् वैसा कर भी ले, तो इस बात का क्या प्रमाण कि तू ने भी वास्तव मे वैसा ही किया है और उसके फलस्वरूप तू भी वैसा ही बन गया है? बाहर मे सब कुछ करके भी क्या अन्दर म तू कर सका है कुछ? जहाँ कुछ करना तेरे वश मे ही नही, वहा तू कर ही क्या सकता है? हजारो नही, करोडो करते दिखाई दे रहे हैं, परन्तु कितने बनते दिखाई दे रह हैं, यह बात तुझसे छिपी नही है।

यदि मैं किसी माता से पूछूँ कि मैं किस प्रकार तेरे शिशु के साथ वैसा ही प्रेम कर सकता हूँ, जैसा तू स्वय करती है, तो वह इसका क्या उत्तर देगी? यही न कहेगी, कि "यह तो मैं नहीं कह सकती कि तू कैसे कर सकता है, परन्तु इतना बता सकती हूँ कि मैं उसके साथ ऐसा व्यवहार किया करती हूँ। उसके साथ लाड लडाती हूँ, उसे मिठाइयाँ खाने को देती हूँ, रोनेपर गोद मे उठाकर उसका मुख चूम लती हूँ, इत्यादि।" "तू मुझे यह बता कि यदि बाहर मे मैं यह सब कुछ ठीक-ठीक कर लू तो क्या मेरे हृदय मे वही अथवा वैसा ही प्यार जागृत हो जायेगा?" भैया! प्रेम कोई करने की वस्तु थोडे ही है कि बाहर म कुछ करने से हो जाय। यह तो हृदय का सहज स्वभाव है, जो हृदय मे स्वय होता है किया नही जाता। यहाँ कृत्रिमता को अवकाश ही कहाँ है? यह तो प्रभु की शक्ति है, जिसके सामने बेचारे अहकार को लाचारीवश हार माननी पडती है।

प्रेम तो प्रेम, क्रोध भी तो कर नही सकता यह स्वय अपनी मर्जी से, जब चाहे तब, जिस पर चाहे तिसपर? किसी प्रसग के प्राप्त होने पर यह भी स्वय होता है, किया नही जाता। यहाँ भी किसी प्रकार की कृत्रिमता का अवकाश कहाँ है? यदि आप मुझसे कहें कि मुझपर अभी क्रोध करके दिखाओ और लगो जान-बूझकर मुझे गालियाँ देने तथा चिढाने, इस उद्देश्य से कि किसी प्रकार मुझे क्रोध आ जाये, तो आप ही बताओ कि क्या मुझे क्रोध आ जायेगा? हाँ, सहज रूप से ऐसा प्रसग आने पर अवश्य ही आ जायेगा।

उठना तो दूर, गिरना भी तो नही है इसके हाथ म। ठोकर खाकर गिरने की स्थिति मे उठना चाहते हुए भी क्या यह उठ सकता है? और उठी

हुई स्थिति में जान बूझकर ठोकर खाकर गिरना चाहते हुए भी क्या यह गिर सकता है ?

इसी प्रकार प्रभु की अहैतुकी कृपा के अभाव में चाहते हुए भी यह प्रभु वन नही सकता, भले ही कितना भी प्रयत्न करे; और उसकी कृपा के सद्भाव मे स्वयं प्रभु वनें विना यह रह नही सकता, भले कितना भी प्रयत्न करे उससे पीछे हटने का। उतावली करनेवाला वहाँ पहुँच नही सकता और जो धीरे-धीरे स्वयं चला जा रहा है वह रुक नही सकता। यही है इस वेचारे अहंकार की एक वड़ी लाचारी, जो अपने जीवन-काल में इसकी समझ में आ नही सकती, और इसके समझ लेने पर वह जीवित रह नही सकता।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न वहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

'यह आत्मा न तो शास्त्र पढ़ने से अथवा उपदेश सुनने से प्राप्त होता है, न यज्ञादि करने से प्राप्त होता है और न ही वहुत विद्वान् वन जाने से उपलब्ध होता है। जिसका यह स्वयं अपनी इच्छा से वरण करता है, उसके प्रति ही यह अपना घूँघट उठाकर अपना स्वरूप प्रकट करता है।' •

४५. सत्य पुरुषार्थ

तो फिर क्या कुछ भी सम्भव नही है यहाँ मेरे लिए ? क्या मैं प्रभु नही वन सकता ? क्यो नही ? क्या तू उसके अतिरिक्त और कुछ है ? भैया ! वही तो है तू। प्रभु ! कितनी विचित्र है आपकी लीला। स्वयं ही तो संकुचित होकर आप वन गये 'मैं' और स्वयं ही पूछ रहे हैं इससे, कि मै क्या करूँ ? ओह ! समझा, सव कुछ जानते हुए भी आप इससे पूछ रहे हैं केवल इसलिए कि आप इसे श्रेय देना चाहते हैं। क्यों न हो, पुत्र है न यह आपका ?

पूछते ही हो तो लो वताता हूँ, वही जो कि बताया है आपने मुझे, अथवा सुना है मैंने ज्ञानियों से। दो ही विधियाँ सम्भव हैं इस विषय में। या तो आप अपने इस 'अहं' की परिधि को इतना वढ़ा लें कि यह स्वयं व्यापक होकर भूमा वन जाय, और या घटाते-घटाते इसको इतना सकीर्ण कर लें कि इसका कही नामोनिशान भी शेष न रहने पाये। या तो हो जाओ इतने व्यापक कि माया की डोरी आपको वाँधने मे छोटी पड़ जाय; या हो जाओ इतने संकीर्ण

ि उसके वन्धन मे से खिसक कर आप उसके सारे प्रयास विफल कर दें। दोनो विधियो का फल एक ही है, 'अह' का नाश।

केन्द्र विस्तृत होकर वन जाता है परिधि और परिधि विस्तृत होकर खो जाती है अपने विस्तार म स्वय, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि सरोवर के जल मे फेंके गये पत्थर से उसमे एक केन्द्र उत्पन्न हो जाता है जो धीरे धीरे अपनी परिधि को वीचिमाला के रूप मे वढाता हुआ सरोवर के विस्तार मे खो जाता है। दूसरी ओर परिधि सकुचित होकर केन्द्र बन जाता है और वह आगे सकुचित होकर नि शेष हो जाता है, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि नदी के जल मे पडा हुआ भँवर धीरे धीरे सकुचित होता हुआ उसी मे लीन हो जाता है और अपनी पृथक् सत्ता को नष्ट कर देता है। दोनो विधियो का फल ही है केन्द्र का अथवा परिधि का नाश।

परिधि वढा कर भूमा वन जाने की विधि को ज्ञानीजन कहते हैं ज्ञान-निष्ठा या ज्ञान-योग, और परिधि घटाकर स्वय नष्ट हो जाने की विधि को वे कहते हैं प्रभु निष्ठा या भक्ति-योग। इन दोनो के मध्य मे स्थित है कर्म-योग। दोनो मे से किसी भी एक विधि के द्वारा अहकारी की परिधि का नाश हो जाने पर व्यक्ति हो जाता है निष्काम, क्योंकि वहा न रहता है सकीर्ण अहकार और न तज्जनित कामना तथा कर्तृत्वाभिमान। तब सब कुछ करता हुआ भी वह वास्तव म कर नही पाता कुछ भी। वह रहता है सदा सहज ज्ञान मे निष्ठ अथवा प्रभु मे निष्ठ। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति तथा कर्म, इन तीनो मे भले हा आकार प्रकार का भेद हो, परन्तु फल की अपेक्षा तीनो एक हैं। तीनो का ही फल अहकार नाश है। इस फल की उपेक्षा कर देने पर तीनो असत्य हैं, केवल वन्दर की नकल हैं।

यद्यपि समान फलदायी होने के कारण तीनो एक हैं, न कोई हीन है न कोई अधिक, तदपि अहकार प्रचुर इस कलियुग के लिए, अनुभवी ऋषियो ने सवप्रथम स्थान प्रभु निष्ठा या भक्ति योग को दिया है, इसलिए नही कि उन्हे इसका पक्ष है, प्रत्युत इसलिए कि यह सबसे अधिक निर्विघ्न तथा सरल-साध्य है। बुद्धिमानो को भी और बुद्धिहीनो का भी। भक्तिविहीन शुष्क ज्ञान निष्ठा की साधना म बुद्धि की ओर से विघ्न आना सम्भव है, क्योंकि यह केवल शब्द ज्ञान के आधार पर साधक के चित्त म भ्रम उत्पन्न कर देती है, जिसके कारण वह हृदयराज्य म प्रवेश पाकर भूमा बने बिना ही केवल बुद्धि के सकीर्ण राज्य में घूमता हुआ अपने को भूमा तथा पूर्णकाम समझ बैठता है। इसी प्रकार भक्ति विहीन शुष्क कर्मनिष्ठा की साधना मे भी दम्भ की ओर स

विघ्न आना सम्भव है, क्योकि यह केवल वाहरी क्रियाओ के आधार पर साधक के चित्त में भ्रम उत्पन्न कर देती है, जिनके कारण व्यक्ति हृदय-राज्य में प्रवेश पाकर अपनी सत्ता नष्ट किये विना ही, केवल दम्भाचरण के राज्य में घूमता हुआ अपने को निष्काम समझ वैठता है। दावाग्नि को भड़का देने-वाली वायु की भाँति, लोक दिखावे के तथा जनरञ्जना के व्यापार से प्राप्त कीर्ति के कारण इन दोनों प्रकार के ही साधकों की यह भ्रान्ति उत्तरोत्तर दृढ़ होती जाती है।

हे प्रभु ! अव आपकी शरण के अतिरिक्त और रह ही क्या गया है यहाँ, जिसका में आश्रय लूं ! आप तो जानते ही हैं कि हृदय को हृदय ही प्राप्त कर सकता है, वुद्धि तथा अहंकार नही; और हृदय के द्वारा ही उसे प्राप्त कर सकता है, वुद्धि के द्वारा नही। प्रेम को प्रेम प्राप्त करता है और कुछ नही, विल-कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि धन को धन ही प्राप्त कर सकता है। शरीर, मन, वाणी तथा वुद्धि की क्रियाएँ कैसे प्रवेश कर सकती हैं आपके इस पावन हृदय राज्य मे ?

हे 'अहं' ! अव तू प्रभु के विधान में हाथ अड़ाने का प्रयत्न मत कर। ढीला कर अपने कर्तृत्वाभिमान को और इस संकीर्ण अहंकार को। कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के सम्पूर्ण विकल्पों को तिलांजलि देकर एक क्षण के लिए, समर्पण कर दे अपने को प्रभु चरणों में, और फिर देख कि क्या होता है। तू देखेगा, कि कोई शक्ति ऊपर से उतर कर तुझे वल-पूर्वक खीच रही ऊपर की ओर। तू देखेगा कि तुझे प्राप्त हो गयी है प्रभु की वह अहेतुकी कृपा, जिसके लिए वड़े-वड़े योगी तरसते हैं और जिसके कारण तेरे हृदय मे चित्र-विचित्र अनु-भूतियाँ उदित होने लगी हैं स्वयं, फटने लगे हैं हृदय के पर्दे स्वयं और खुलने लगे हैं हृदय के द्वार स्वयं। तू देखेगा कि प्राणापान तथा मेषोन्मेष रुकने लगे हैं स्वयं, त्राटक लग गया है स्वयं, आसन मुद्रा प्राणायाम होने लगे हैं स्वय, ध्यान समाधि होने लगी है स्वय, कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो गयी है स्वय, पट्चक्रभेदन तथा सुषुम्ना-नाड़ी मे प्रवेश हो गया है स्वयं। तू देखेगा कि तू व्यापक होकर भूमा वन गया है स्वयं, अपनी व्यष्टिगत सत्ता को समष्टि मे लीन करके तू ज्ञाननिष्ठ हो गया है स्वयं।

प्रभु कोई दो हाथ-पॉव वाले व्यक्ति थोडे ही है, जिनको तुझे दर्शन देने के लिए सप्तम आकाश से आना पड़ेगा यहाँ। अरे ! वह तो तू ही है स्वयं। 'मैं क्या करूँ, मैं ऐसा करूँ, मै वैसा करूँ, यदि ऐसा करूँगा तो ठीक रहेगा, अन्यथा करने से ठीक नही रहेगा', इत्यादि प्रकार के विविध संकल्प-विकल्पों में

तूने स्वय रेशम के कीडे की भाँति ढक लिया है उसे। जिस प्रकार निर्मल जल के स्पन्दित हो जाने पर तलवर्ती वस्तु दिखाई नही देती, उसी प्रकार इन विकल्पो के उत्पन्न हो जाने पर हृदय निष्ठ प्रभु दिखाई नही देते। जिस प्रकार जल का स्पन्द शान्त हो जाने पर तलवर्ती वस्तु सहज दिखाई दे जाती है, उसी प्रकार विकल्प शान्त हो जाने पर हृदयवर्ती प्रभु सहज दृष्ट हो जाते हैं। यहाँ इस विषय म निराकारोपासना तथा साकारोपासना का भेद भी देखना योग्य नही है, क्योकि वह वास्तव म अहकारकृत है, जो मन म उसकी सकीर्णता के कारण उत्पन्न हुआ है। मूल म जाकर देखने पर दोनो एक हैं, क्योकि दोनो का ही फल अहकार निवृत्ति है। व्यक्ति अपनी प्रकृति शक्ति तथा परिस्थिति की ठीक प्रकार परीक्षा करके, इनम से जो कुछ भी उसे अपने अनुकूल जँचे करे। व्यर्थ के पक्षपात मे क्या रखा है ?

उपासना का स्वरूप तो आगे बताया जानेवाला है। यहा केवल इतना कहना इष्ट है कि उपासक अपने उपास्य को विष्णु कहे या शिव, राम कहे या कृष्ण, बुद्ध कहे या महावीर गॉड कहे या अल्लाह सत्य कहे या तत्त्व—बात एक ही है। उसके प्रति हृदय मे प्रेम जागृत हो जाने पर ज्ञान, योग, भक्ति, क्रियाकर्म आदि जो कुछ भी करे सब सफल हैं, और उसके बिना सब कुछ निष्फल है। हृदय ही उस प्रभु का वह निवास है अथवा हृदय ही वह दर्पण है, जिसमे सत्य या तत्त्व प्रतिबिम्बित होता है, अथवा हृदय ही स्वयं भूमा है, उसकी ओर उन्मुख हो जाने पर किया गया कुछ भी अभ्यास भले ही प्रारम्भिक दशा मे असत्य हो, परन्तु आगे जाकर इस भव में या अगले भव म वह अवश्य सत्य हो जायेगा—इसमें तनिक भी सन्देह नही है। उससे विमुख होकर किया गया कितना भी विकट पुरुषार्थ तथा तप क्यो न हो, केवल दिखावा तथा दम्भ है।

यद्यपि यहाँ भक्ति को सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया गया है, तदपि परमार्थ दृष्टि से देखने पर ज्ञान, कर्म तथा भक्ति एक-दूसरे से विलग न होकर एक दूसरे के पूरक हैं, क्योकि जिस प्रकार प्रभु प्रेम के बिना ज्ञान तथा कर्म निष्प्राण हैं उसी प्रकार ज्ञान के बिना भक्ति तथा कर्म अन्धे हैं और कर्म के बिना भक्ति तथा ज्ञान लगड़े हैं। भक्ति यदि साधना के शरीर का हृदय है, तो ज्ञान उसका नेत्र है और कर्म उसके पाँव। भक्ति म हृदय का प्राधान्य है ज्ञान म बुद्धि का और कर्म म मन, वाणी तथा शरीर का। व्याख्याना की अपेक्षा से भले पृथक् पृथक् कहे जावें, परन्तु एक अखण्ड साधना

की अपेक्षा तीनों एक है। तीनो ही उसके शरीर के तीन अंग हैं, अथवा हमारे एक अखण्ड जीवन के तीन भाग है। एक के विना दूसरा मृत है।

जैन दर्शन ने जीवन की इस त्रयी को 'रत्नत्रय' के रूप मे प्रस्तुत किया है। वहाँ प्रथम अंग सम्यग्दर्शन है, जिसमे श्रद्धा तथा भक्ति प्रधान है, द्वितीय अंग सम्यग्ज्ञान है, जिसमें तत्त्वज्ञता प्रधान है, और तृतीय अंग सम्यक्चारित्र है, जिसमें कर्म प्रधान है। इसी प्रकार वौद्ध दर्शन ने वुद्ध, सघ तथा धर्म, इन तीनों को रत्नत्रय' कहा है। वहाँ भगवान् वुद्ध श्रद्धा तथा भक्ति के अवलम्वन हैं, भिक्षु अथवा साधु सघ तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए अवलम्वन हैं, और धर्म कर्म का अधिष्ठान है। दोनों ही दर्शनों के द्वारा मान्य ये तीन रत्न, एक दूसरे से पृथक् न होकर, एक दूसरे के पूरक हैं। परमार्थतः तीनो अखण्ड तथा एक हैं।

भक्ति की प्रधानता से यहाँ हृदय की प्रधानता वतानी इष्ट है और हृदय की प्रधानता से श्रद्धा तथा प्रेम की। श्रद्धा तथा प्रेम के अभाव में चूँकि अहंकार का तथा स्वार्थपूर्ण कामना का अवश्यम्भावी सद्भाव स्वाभाविक है, और इनके सद्भाव मे चूँकि ज्ञान की समतापूर्ण विशालता तथा कर्म की निष्कामता केवल स्वप्न है, इसलिए प्रभु-प्रेम से युक्त हार्दिक भक्ति का प्राधान्य न्याय-सिद्ध है।

कामनापूर्ण संकल्प का अथवा 'मैंने किया' इत्याकारक कर्तृत्वाभिमान का अभाव होने के कारण यहाँ कुछ 'करना धरना' नहीं, वल्कि कुछ भी 'न करना' ही सत्य-पुरुषार्थ है। वाहर में 'न करना' नही, वल्कि भीतर में 'न करना'; संकल्प-विकल्पो मे 'न करना', कामना में 'न करना'। भीतर से कर्म-शून्य हो जाने पर फिर वाहर से कुछ भी करे, कोई चिन्ता नही। अपने सर्व कर्मों को प्रेमपूर्वक प्रभु के चरणो में समर्पण करता चल और तू देखेगा कि कोई भी कर्म तुझसे लिपटता नही है, तेरे चित्त में कुछ भी अपना संस्कार अंकित करता नही है। •

४६. उपासना

ज्ञान, भक्ति तथा कर्म-साधना की इस त्रयी में भक्ति का प्राधान्य स्थापित किया गया और उसमें भी निराकारोपासना की प्रशस्ति गायी गयी, जो कि रूढ़िग्रस्त होकर आज एक निष्प्राण कंकाल से अधिक कुछ भी नहीं है। ठीक है

भाई, ठीक है, परन्तु इस प्रकार निराश होने की आवश्यकता नहीं है। साधारण जन का सग छोडकर तनिक ज्ञानियो की शरण मे चल। वे तुझे इसका यथाय स्वरुप तथा रहस्य समझायेंगे।

साकारोपासना का अथ कोरी पाषाण पूजा नही है, प्रत्युत पाषाण की मूर्ति मे अपने जिस प्रियतम को भावनाओ के द्वारा तूने स्थापित किया है, उसकी उपासना है अर्थात् अपने चित्त को उसके निकट बैठाने का प्रयत्न है। अन्तर्जगत् के इस पावन प्रयत्न मे मूर्ति केवल एक आलम्बन है, जिसका साधना की सुविधा के लिए ऋषियो तथा कवियो ने ~~आविष्कार~~ किया है और जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पूजा का अर्थ भी यहा केवल बाहरी षोड-शोपचार तथा सुर ताल मे कीतन आदि करना मात्र नही है, प्रत्युत हृदयगत उस प्रीति को उद्रिक्त करना है, जो कि भक्त के हृदय को उसी प्रकार अपने वश मे किये हुए है, जिस प्रकार माता के हृदय को उसका शिशु, अथवा पत्नी के हृदय को उसका पति, अथवा मित्र के हृदय को उसका मित्र, अथवा सच्चे सेवक के हृदय को उसका स्वामी। नैवेद्य आदि चढाना, दीप जलाना, धूप देना, चमर डुलाना आदि षोडशोपचार तथा सुर-ताल से कीर्तन करना अथवा नृत्य आदि करना भी पाषाण की मूर्ति के प्रति न होकर अपने हृदयगत उस प्रीति के प्रति है, जिसके कारण वह मूर्ति को मूर्ति न देखकर उसी प्रकार जीवत देखता है, जिस प्रकार माता अपने बच्चे के चित्र को अथवा पत्नी अपने पति के पत्र को। इस प्रीति को प्रेरित करने मे अथवा उसकी अभिवृद्धि म यदि मूर्ति सहायक हो रहा है, तो उसके प्रति की गयो ये सब नाट्य लीलाएँ सार्थक हैं, अन्यथा निरथक।

इस प्रेमोद्रेक के द्वारा उपासक अपनी सकल वृत्तियो को अपने उपास्य के अधिकाधिक निकट ले जाता है, और अपने हृदय मे प्रभु-प्रेम का एक नया ससार बनाकर आनन्दपूवक उसमे विहार करता है। ऐसा करते हुए उसे ऐसा रस आता ह, जैसा कि अपने शिशु को स्तनपान कराते हुए माता को आता है, अथवा पति की सेवा करते हुए पत्नी को आता है, अथवा मित्र के सहवास से मित्र को आता है अथवा अपने स्वामी की रक्षा करके कुत्ते को या किसी सच्चे सेवक को आता है। युद्ध भूमि मे घायल महाराणा प्रताप को ले भागनेवाले उनके प्रिय घोडे चेतक के हृदय मे अपने स्वामी के प्रति कितना प्रेम था! अपने प्रभु के प्रति इस प्रकार का प्रेम होनेपर ये सब सार्थक हैं, अन्यथा निरथक।

इस प्रीति के कारण भक्त का तन मन धन जीवन सब-कुछ अपने प्रीतम के चरणों में उसी प्रकार समर्पित हो जाता है, जिस प्रकार चन्द्रमा के प्रति चकोर का। वह अपने प्रियतम के लिए खाता है और उसी के लिए गाता है। उसी के लिए काम करता है और उसी के लिए विश्राम करता है। उसी के लिए रोता है और उसी के लिए हँसता है। उसी के लिए सोता है और उसी के लिए जागता है। उसी के लिए कमाता है और उसी के लिए खर्च करता है। उसी के लिए नहाता है और उसी के लिए सुस्ताता है। तात्पर्य यह कि उसके सब कार्य केवल उसी की प्रसन्नता के लिए अथवा उसी के सान्निध्य के लिए होते हैं। किसी भी कार्य में उसे न कुछ कर्तृत्व का भान होता है और न कुछ स्थायित्व का। उसे लगता है कि यह शरीर केवल कठपुतली है, जिसे उसका मनोमीत अपनी इच्छा से नचा रहा है। प्रभु ही उसका सर्वस्व है।

यद्यपि कहने-सुनने में ये सब बातें कोरी नाट्य-लीला अथवा वाग्-विलास के अतिरिक्त कुछ भी प्रतीत नही होती, तदपि हृदय मे प्रवेश करने पर यह एक जीता-जागता रस है, जिसका वर्णन शब्दों मे सम्भव नही। भक्त का मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सब कुछ अपने सुन्दर उपास्य के चरणो मे अर्पित है। भक्ति की इस प्रेममयी साधना के माध्यम से धीरे-धीरे सकुचित होता जाने के कारण उसके 'अहं' का सर्वथा लोप हो जाता है, और उसे जगत् के सकल पदार्थों में उसी के अथवा उसी की लीला के दर्शन होने लगते हैं। इसलिए जगत् में उसके लिए कुछ भी विकर्षक नही रह जाता। सब कुछ सुन्दर तथा मधुर बन जाता है। इष्ट-अनिष्ट का सकल द्वन्द्व नि.शेष हो जाता है। और यही है भक्ति की पराकाष्ठा।

निराकारोपासना का स्वरूप तथा फल भी वस्तुत: यही है, क्योकि जैसा तथा जितना प्रेम साकारोपासक को अपने हाँथ-पाँववाले प्रियतम के प्रति है, वैसा तथा उतना ही प्रेम निराकारोपासक को अपने बिना हाथ-पाँववाले प्रियतम के प्रति है। जैसा तथा जितना रस साकारोपासक को अपने प्रीतम के दर्शन-स्पर्शन तथा सेवन से प्राप्त होता है, वैसा तथा उतना ही रस निराकारोपासक को अपने प्रीतम के दर्शन आदि से प्राप्त होता है। जैसा तथा जितना आकर्षण साकारोपासक को अपने हाथ-पाँववाले उपास्य के प्रति है, वैसा तथा उतना ही आकर्षण निराकारोपासक को अपने बिना हाथ-पाँव-वाले उपास्य के प्रति है। जैसी तथा जितनी महिमा साकारोपासक की दृष्टि में अपने हाथ-पाँववाले भगवान् की होती है, वैसी तथा उतनी ही महिमा निराकारोपासक को अपने बिना हाथ-पाँववाले भगवान् के प्रति होती है।

जैसे तथा जितने शब्द या विशेषण साकारोपासक अपने हाथ-पाँववाले भगवान् का स्तवन करने मे प्रयोग करता है, वैसे तथा उतने ही शब्द या विशेषण निराकारोपासक अपने बिना हाथ पाँववाले भगवान् के स्तवन में प्रयोग करता है। जिस प्रकार साकारोपासक का तन मन धन तथा जीवन सब कुछ अपने हाथ-पाँववाले परमेष्ठी के चरणो मे समर्पित होते हैं, उसी प्रकार निराकारोपासक का तन मन धन जीवन सब कुछ अपने बिना हाथ-पाँववाले परमेष्ठी के चरणो में समर्पित हैं। इस प्रकार दोनो स्वरूपत समान हैं।

फल की अपेक्षा भी दोना समान हैं, क्योकि जिस प्रकार अहकार निवृत्ति साकारोपासना का फल है, उसी प्रकार अहकार निवृत्ति निराकारोपासना का फल है। साकारोपासक भी अपनी इस अहकार निवृत्ति के फलस्वरूप जगत् के सकल पदार्थो मे अपने हाथ-पाँववाले प्रभु की लीला-विलास का दर्शन करता है, और निराकारोपासक भी अपनी इस अहकार निवृत्ति के फलस्वरूप जगत् के सकल पदार्थों मे अनुगत अपने बिना हाथ पाँववाले प्रभु के लीला विस्तार का दर्शन करता है। साकारोपासक भी अन्त म अपनी क्षुद्र सत्ता को अपने इष्ट की सत्ता मे लीन करके स्वय प्रभु बन जाता है, और निराकारोपासक भी अपनी क्षुद्र सत्ता को अपने इष्ट की सत्ता मे लीन करके भूमा बन जाता है।

अन्तर केवल आलम्बनो में है। साकारोपासक के आलम्बन का नाम सूर्य, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि है अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश आदि है, अथवा राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि है, और निराकारोपासक के आलम्बन का नाम तत्त्व सत्य, आत्मा/परमात्मा ईश्वर भूमा आदि है। साकारोपासक के आलम्बन का रूप मानवाकार है और निराकारोपासक के आलम्बन का रूप शून्याकार है। साकारोपासक का आलम्बन ससीम होने के कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय है और निराकारोपासक का आलम्बन असीम होने के कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय न होकर हृदय-प्रत्यक्ष का विषय है। ज्ञानी जन प्रत्यगात्मा के रूप मे अथवा हृदयाकाश के रूप मे उसका अपरोक्ष दर्शन करते हैं। साकारोपासक का आलम्बन कल्पना मात्र होने के कारण असत्य है और निराकारोपासक का आलम्बन सत्ताधारी तत्त्व होने के कारण सत्य है।

इस प्रकार यद्यपि दोनो उपासकों के आलम्बनो मे भेद है तदपि उपासनाओ के स्वरूप मे तथा उनके फल म भेद न होने के कारण, भक्ति योग के क्षेत्र मे आलम्बनों का भेद गौण है, क्योंकि उपासक को आम खाने से प्रयोजन है, पेड गिनने से नहीं। जिस किस भी पदार्थ का आलम्बन लेने से

उसके हृदय मे प्रेम का उद्रेक हो जाय और रसानुभूति हो जाय, उसके लिए वही आलम्बन ठीक है, भले ही वह सत्य हो या असत्य।

यहाँ यह शंका उचित नही है कि काल्पनिक आम से स्वाद नही आ सकता, क्योंकि आप नित्य ही काल्पनिक आम का स्वाद ले रहे हैं। आपका मन दिन के समय, जिस वैकल्पिक जगत् में घूमता है अथवा रात के समय जिस स्वप्न के जगत् में घूमता है, वह यद्यपि एक असत्य कल्पना है, तदपि उसके आलम्बन से जिस दुःख की अथवा सुख की आप को साक्षात् प्रतीति होती है, वह सत्य है। इसी प्रकार साकारोपासक जिसका आलम्बन लेकर प्रेम का जगत् बसाता है, वह आलम्बन यद्यपि एक असत्य कल्पना है, तदपि उसके द्वारा जिस प्रेम तथा भक्ति के रस का स्फुरण उसके हृदय में होता है, वह उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार सत्य-तत्त्व के आलम्बन से निराकारोपासक के हृदय मे स्फुरित होनेवाला प्रेम तथा भक्ति का रस।

दूसरी बात यह भी है कि साकारोपासक हो या निराकारोपासक, जब तक उसके हृदय मे 'अहं' का लेश भी जीवित है, तब तक कल्पना-लोक का अतिक्रम करना ही उसके लिए एक कल्पना से अधिक कुछ नहीं है। वास्तव में हम सभी कल्पना के जगत् मे रहते हैं। यह कल्पना ही जगद्विजयी वह अविद्या शक्ति है जो 'अहं' को आवृत करके उसे बन्धन में डालती है और प्रभु की शरण को प्राप्त होने पर उसे मुक्त कर देती है। यही आध्यात्मिक जगत का सबसे बड़ा सेनानी वह मन है, जिसे बंध तथा मोक्ष, दोनों का हेतु कहा गया है—'मन एव मनुष्याणा कारणं बन्धमोक्षयो:।'

स्वार्थ-पोषण के प्रति उद्यत होने पर जो अविद्या बन्धनकारी होती है, वही स्वार्थनाश के प्रति उद्यत होने पर सर्वदोषापहारिणी विद्या का रूप धारण कर लेती है। जिस प्रकार अस्त्र को अस्त्र के द्वारा ही काटा जाता है, अथवा जिस प्रकार मैल को मैल के द्वारा ही धोया जाता है, अथवा जिस प्रकार विष को विष के द्वारा ही दबाया जाता है, अथवा जिस प्रकार रिपु को रिपु के द्वारा ही नष्ट किया जाता है, उसी प्रकार अविद्या को अविद्या के द्वारा ही शान्त किया जाता है, मनको मनके द्वारा ही मारा जाता है, कल्पना को कल्पना के द्वारा ही जीता जाता है। इस अविद्या का स्वरूप अत्यन्त विचित्र है, जो इसके जीवन-काल मे तो प्रयत्न करने पर भी दिखाई नहीं देता और इसके नष्ट हो जाने पर सहज दिखाई दे जाता है। अथवा यों कह लीजिये कि अदृश्य रहने तक यह जीवित रहती है और दृष्टि में आते ही नष्ट हो जाती है। जीती रहने से यह रुष्ट होती है और अपने नाश से सन्तुष्ट होती है।

हुई है'—इस प्रकार अहंकार जागृत हो जाने पर उसी अर्जुन को एक छोटी सी भीलों की टोली ने हरा दिया।

अत. शरणापत्तिक रूप में भक्ति योग ही सर्वोपरि प्रतिष्ठित है और यही सत्य पुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। इसलिए उठ और शोक तथा निराशा को तजकर प्रभु की शरण को प्राप्त हो। समर्पण कर दे उनके चरणों में अपना सर्वस्व—स्वामित्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व। तू देखेगा कि कोई शक्ति तुझे ऊपर उठाये लिये जा रही है, और तू भूमा बना जा रहा है। यह है प्रभु की अहैतुकी कृपा।

४९ अकर्म में सकर्म

निराश तथा निढाल-से क्यों हुए जा रहे हो प्रभु, अकर्मण्य तथा शून्य से क्यों बने जा रहे हो भगवन्, वक्तृत्व निरास की इस बात को सुनकर? विकल्पों को छोड़िये और तनिक हृदय में उतर कर देखिये कि कितना सुन्दर तथा सजीव है यह शून्य, और कितना पुरुषार्थ करना पड़ता है इस अकर्मण्यता की प्राप्ति के लिए? कितना कल्याण तथा मंगलकारी है यह, अपने प्रति भी और जगत् के प्रति भी? अपने प्रति मंगलकारी है इसलिए, कि वह साक्षात् आनन्द है, प्रभु का साक्षात् दर्शन है, स्वयं भूमा है, और जगत् के प्रति मंगलकारी है इसलिए, कि अन्तहृदय से उत्पन्न यह मंगलकारी स्पन्द बाह्य के इस शून्य में फैलकर पवित्र कर देता है सम्पूर्ण वायुमण्डल को, जिससे अनुप्राणित हो यह सारा जगत् जीवन धारण किये बैठा है। भले उसे जान न पाये वह, पर स्पन्द के पारस्परिक प्रभाव को जाननेवाले तत्त्वज्ञ अवश्य उसका प्रत्यक्ष वेदन करते हैं।

भैया! यह तो देख तनिक अपने भीतर उतरकर कि तुझे निढाल सी करती हुई यह अकर्मण्यता की आशंका कहाँ से उदित हो रही है? देख अहंकार ही यहाँ इसकी आड़ में बैठा आँसू बहा रहा है, क्योंकि इससे छिन्न भिन्न हुआ जा रहा है उसका समस्त शासन। और फिर यह भी तो विचार कि अहंकार से रक्षित हुआ भी तू क्यों व्यर्थ आशंकित हो रहा है? क्या चाहने पर इस अवस्था में तू कभी अकर्मण्य हो सकता है? यदि हो सकता है तो देख करके अपनी परीक्षा देख प्रयत्न करके एक क्षण के लिए शून्य होने का। क्या हो पाता है सफल पाँच मिनट के लिए भी? भले बैठ जा

आखें मूँदकर निश्चल आसन से, परन्तु मन तो कर ही रहा है अपना काम, पहले से भी कही अधिक। मन की तो वात नही, शरीर को भी तो विठा नही सकता तू अधिक देर? तेरी अहंकारी प्रकृति स्वयं तुझे नियोजित कर देगी किसी काम में।

अरे भैया! क्या वहिर्मुखी और क्या अन्तर्मुखी, कोई भी अकर्मण्य तो हो ही नही सकता। जब तक अहं शेप है, कुछ न कुछ करना ही होगा, बाहर में या भीतर मे, अपनी अपनी प्रकृति, शक्ति तथा परिस्थिति के अनुसार। इतनी वात अवश्य है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने के कारण वाह्य के कार्य मे तो तुझे कर्मण्यता की प्रतीति होती है और इद्रिय-प्रत्यक्ष न होने के कारण अन्तरग कार्य मे तुझे अकर्मण्यता की प्रतीति होने लगती है। केवल इस अपनी लँगड़ी प्रतीति पर से कर्मण्यता तथा अकर्मण्यता का निर्णय करना कहाँ का न्याय है? जिसे तू अकर्मण्यता कहता है, वह वास्तव मे अन्तरंग का एक कार्य है जिसमे वाह्य कार्य की अपेक्षा अधिक पुरुपार्थ की आवश्यकता है, क्योकि सकल्प-विकल्पो से शून्य होकर वैठना कोई सरल काम नहीं है।

यदि चरम स्थित मे पहुँचकर कोई महाभाग्य वास्तव में ऐसा अकर्मण्य हो जाय, यदि न रह पाये उसमें कोई वाह्य कार्य और न भीतरी कार्य, न कोई इच्छा न प्रयत्न; तो तू ही वता कि इसमें खरावी की कौन वात है? यह तो तुझे इष्ट ही है, क्योकि उसी की प्राप्ति के अर्थ तो व्याकुल-सा हुआ तू पूछ रहा था मुझसे कि मै क्या करूँ? और फिर सर्वदा थोड़े ही रह सकेगा वह भी ऐसा? उत्थान दशा में तो उसे भी करना ही पडेगा कुछ न कुछ, भले तेरी रुचि के अनुसार न सही।

ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी, प्रकृति के राज्य मे रहते हुए अपनी प्रकृति तथा शक्ति के अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको कुछ न कुछ तो करना पड़ता ही है। अन्तर पड़ता है केवल भीतर मे। फलाकाक्षा से शून्य हो जाने के कारण ज्ञानी का कार्य होता है निष्काम, और फल को ही अपने समक्ष रखकर करने-वाले अज्ञानी का कार्य होता है सकाम। दूसरी ओर, प्रकृति-राज्य से ऊपर उठकर, हृदय मे प्रवेश कर जाने पर कर्म उस समय तक सम्भव नही, जब तक कि विकल्प जागृत हो जाने के कारण वह वहाँ से गिरकर पुन प्रकृति-राज्य मे नही आ जाता।

व्यापक दृष्टि मुदी रहने के कारण वहिर्मुखी 'अह' चाहते हुए भी कर्तृत्व-शून्य होकर इस प्रकार के सत्य-पुरुपार्थ को प्राप्त नही कर सकता, परन्तु व्यापक दृष्टि खुल जाने के कारण अन्तर्मुखी 'अहं' न चाहते हुए भी उसे सहज प्राप्त कर लेता है, और कर्तृत्व-शून्य होकर कृतकृत्य हो जाता है।●

५० नैष्कर्म्य

हे अहंकार क्यों गरज रहा है, व्यर्थ ही भभक रहा है और दे रहा है दुहाई अकर्मण्यता की? क्या इस प्रकार की पुकारों से तेरी असत्य धारणा सत्य हो जायेगी? ठीक है कि तुझे वर्तमान में अपने से अतिरिक्त कोई भी कर्ता दिखाई नहीं देता। समष्टि कार्य की तो बात नहीं, व्यष्टियों के कार्यों में भी तो तू सर्वत्र अपना ही कर्तृत्व देखा करता है और सदा यही सोचा करता है कि यदि मैं सहायता न करता तो उसका कार्य कभी सफल न हुआ होता। पिता सोचता है कि मेरी मृत्यु के पश्चात् ये मेरे पुत्र मेरे घर को चौपट कर देंगे। इसी प्रकार किसी संस्था का मन्त्री या देश का राजा सोचता है कि मेरे पश्चात् यह संस्था या देश नष्ट-भ्रष्ट होकर रह जायेंगे। परन्तु इस बात का क्या प्रमाण है तेरे पास, कि तेरी यह धारणा सत्य है? बहुत सम्भव है कि यह मात्र एक भ्रान्ति हो।

क्या बैलों के द्वारा चालित गाड़ी के नीचे चलनेवाला कुत्ता यह नहीं समझ बैठता कि मैं ही इसे चला रहा हूँ? इसी प्रकार सम्भवतः किसी अन्य शक्ति के द्वारा चालित कार्य को तू अपना समझ रहा हो? जिस प्रकार गाड़ी की इस क्रिया में कुत्ते का किंचिन्मात्र कर्तृत्व न होते हुए भी, वह स्वतः उसकी इच्छा तथा प्रयत्न के अनुसार चल रही है, इसी प्रकार क्या यह सम्भव नहीं है कि व्यष्टि तथा समष्टि की क्रिया में तेरा कोई कर्तृत्व न होते हुए भी, वह स्वतः तेरी इच्छा तथा प्रयत्न के अनुसार हो रही हो? और यदि कदाचित् ऐसा ही हो तो तू ही बता कि कैसे मान लेंगे ज्ञानीजन तेरी इस धारणा को सत्य कि 'मैं ही कर रहा हूँ सब कुछ।'

जिस प्रकार कुत्ते की धारणा को ठेस लगती है उस समय, जब कि उसकी इच्छा तथा प्रयत्न के बिना ही गाड़ी किसी कारणवश स्वयं रुक जाती है, अथवा उसकी इच्छा तथा प्रयत्न रहते हुए भी वह रुक नहीं पाती है। इसी प्रकार तेरी इस धारणा को भी उस समय ठेस लगती है, जब कि कार्य अथवा उसका फल कदाचित् तेरी इच्छा तथा प्रयत्न के विरुद्ध होने लगता है। क्या प्रकृति माँ तेरे समक्ष नित्य ऐसे अवसर प्रस्तुत नहीं कर रही है, जब कि

तू चाहता हुआ भी कुछ नही कर पाता और न चाहते हुए भी सब कुछ कर गुजरता है, अथवा चाहता तो है करना कुछ, और कर बैठता है कुछ? अथवा क्या नहीं आते हैं ऐसे अनेक अवसर तेरे पद-पद पर, जब कि तेरा कार्य सर्वथा असफल रह जाता है; अथवा किंचिन्मात्र सफल होता है? कुत्ता जिस प्रकार ऐसा अवसर उपस्थित होने पर लज्जित होने के बजाये भौंकने लगता है, उसी प्रकार तू भी ऐसे अवसर उपस्थित हो जाने पर अथवा इस प्रकार के उपदेश प्राप्त हो जाने पर अपनी भूल के लिए लज्जित होने के बजाय व्यर्थ गरजने लगता है।

भैया! समझ कि क्यो लाती है प्रकृति माँ ऐसे अवसर तेरे मार्ग में? वे मात्र तेरे अहंकार-जन्य कर्तृत्व को असत्य सिद्ध करने के लिए हैं। माँ के इस उपदेश को ग्रहण न करके व्यर्थ गरजने से क्या लाभ होगा तुझे? क्यों उसके उपदेश को हृदयगत करके तू अपने समस्त कर्तृत्व से उपरत नहीं हो जाता और अपने सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों को छोड़कर उसी माँ की शरण में क्यो नही चला जाता? सकल कार्यों में उसी की असीम स्पन्द-शक्ति को अनुगत क्यों नही देखता? ऐसा करने में ही तेरा कल्याण है, क्योंकि इसी प्रकार तू अन्तर्मुखी होकर प्रवेश कर सकेगा हृदय-राज्य में।

देख, इस कारखाने की ये सभी मशीनें कह रही हैं यह कि हम बुन रही हैं कितने प्रकार के कपड़े, और उनका यह कहना किसी अपेक्षा ठीक भी है। परन्तु क्या वैज्ञानिक जन हँसेंगे नही उनके इस अहंकार पर? क्योकि वे देख रहे हैं इन सब के पीछे बैठी हुई, इनकी समस्त क्रियाओ में अनुगत एक विद्युत-शक्ति को। इसी प्रकार तू और तेरी ही भाँति ये सब जड़ चेतन पदार्थ कह रहे है यह कि देखो हम कर रहे हैं कितने प्रकार के चित्र-विचित्र कार्य और तुम्हारा यह कहना किसी की अपेक्षा सत्य भी है। परन्तु क्या ज्ञानीजन हँसेंगे नही तुम्हारे इस अहंकार पर? क्योंकि वे देख रहे हैं इन सब तुम्हारी क्रियाओ के पीछे बैठी हुई, इन सब में अनुगत तत्व की महान् स्पन्दन-शक्ति को।

क्या तो समष्टि के विविध नाम रूपात्मक पदार्थों की रचना का कार्य और क्या व्यष्टियों के घट-पट आदि पदार्थों की रचना का कार्य, क्या समष्टि में विराट् गति का कार्य और क्या व्यष्टि में हाथ-पाँव हिलाने का कार्य, क्या इंद्रियों द्वारा जानने का कार्य, क्या मन द्वारा संकल्प-विकल्प करने का कार्य और क्या बुद्धि द्वारा निश्चय करने का कार्य, सभी यद्यपि बाह्य स्तरपर देखने से कुछ स्वतन्त्र दिखाई देते हैं; तदपि मूल मे उतर कर देखने पर सर्वत्र सर्वदा केवल एक स्पन्द ही है। भले ही ऊपरी तल पर आकर तेरा कर्तृत्वा-

मिमान सत्य हो, परन्तु मौलिकता के सन्धान में कहाँ टिक पाता है वह ? बस बहुत गरज चुका, अब शान्त हो और इस महान शक्ति के चरणों में इस अपने कर्तृत्व के मिथ्या अभिमान को समर्पित करके व्यापक हो जा, भूमा बन जा, प्रभु बन जा।

५१ कर्तृत्व-निरास

परन्तु देखिये इस अहंकारी की हठ, निलज्जता तथा दुःसाहस, कि बराबर परास्त होते हुए भी हार मानने को तैयार नहीं। बराबर फटकार सुनता हुए भी लज्जित होने को तैयार नहीं। बराबर प्रभु की महिमा का गान सुनते हुए भी शीश झुकाने को तैयार नहीं। बराबर अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य होता देखते हुए भी कर्तृत्वाभिमान छोड़ने को तैयार नहीं। बराबर अपने कार्यों को विफल होता देखते हुए भी प्रभु का शासन तथा उसकी शक्ति मानने को तैयार नहीं। दैत्यराज हिरण्यकशिपु की भाँति इसे अपने से बड़ा यहाँ कुछ दीखता ही नहीं। अपने को ही विश्व-व्यवस्था का कर्ता-धर्ता-हर्ता तथा धाता-विधाता मानकर विश्व के इस रंगमंच पर गरज रहा है और सकल दैवी शक्तियों को ललकार रहा है। प्रभु के विषय में, उसकी अचिन्त्य शक्ति के विषय में तथा उसके एकछत्र शासन के विषय में इतना कुछ कहा जाने पर भी, अपने मिथ्या कर्तृत्व से विरत होकर नैष्कर्म्य की शरण में आने को तैयार नहीं। आइए, एक बार पुनः इसे समझाकर देख लें। सम्भवतः गुरु की यह अन्तिम देशना इसे स्पर्श कर जाय।

जगत् की ईश्वराधीन अथवा तत्त्वाधीन सहज कार्य-कारण व्यवस्था पर विश्वास न आना ही इसकी इस उछल-कूद का कारण है। यद्यपि इस विषय में विस्तार के साथ बहुत-कुछ कहा जा चुका है, तथापि ग्रन्थ का उपसंहार करने से पहले अहंकार का समाधान करने के लिए संक्षेप से उसका पुनर्वीक्षण कर लेना कुछ लाभदायक सिद्ध हो सकता है। आइये, इस विषय में दार्शनिक विचारों का पर्यवेक्षण करें। दार्शनिक जगत् में इस विषय में प्रायः दश मत या वाद प्रसिद्ध हैं—पुरुषार्थवाद, निमित्तवाद, भाग्यवाद, स्वभाववाद, कालवाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद, आत्मवाद, शक्तिवाद, और ईश्वरवाद।

विश्वगत कार्य-कारण व्यवस्था के क्षेत्र में प्रसिद्ध ये दशो वाद यद्यपि साधारण दृष्टि से देखने पर परस्पर विरोधी दिखाई देते है, तदपि वस्तुतः पृथक्-पृथक् कुछ न होकर ये सव एक अखण्ड कार्य-व्यवस्था के विविध अंग हैं, एक-दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। यद्यपि इनका कुछ क्रम निर्धारित नही है, तदपि एक-दूसरे के प्रति मैत्री-दर्शन के लिए यहाँ इन्हे उत्तरोत्तर उन्नत सोपानों के रूप में सँजोया गया है। अन्तिम सोपान पर पहुँचने पर अहंकार-शून्य हो जाने के कारण यह सव उसी महासत्ता की शक्ति में लीन होकर नि.शेष हो जाते हैं, जिसे कि अव तक तत्व, सत्य, भूमा, प्रभु, परमात्मा तथा ईश्वर के नाम से याद किया गया है।

१. इन्द्रिय प्रत्यक्ष को ही सर्वेसर्वा माननेवाले भौतिकवादी लोकायत का देहाध्यासी अहंकार अपने पुरुपार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अदृष्ट शक्ति पर विश्वास कैसे कर सकता है? कार्य-कारण व्यवस्था के इस निम्नतम सोपान पर अहंकार का कर्तृत्वाभिमान-युक्त पुरुपार्थ ही सव-कुछ है। उसकी दृष्टि में इसके विना कुछ भी होना सम्भव नही। जीवन के दैनिक व्यवहार में जो कभी-कभी किये गये कार्य के विरुद्ध फल होता दिखाई देता है, उसका कारण भी पुरुपार्थ ही है। पुरुपार्थ मे किसी प्रकार की कमी अथवा भूल रह जाने के कारण ही ऐसा होता है, अन्य किसी कारण से नही। इस प्रकार इस सोपान पर अहंकार ही पुरुपार्थवाद का रूप धारण करके सत्य को डरा-धमका रहा है और उसे वन्दी वनाकर अपने चक्रवर्तित्व की घोषणा कर रहा है।

२. द्वितीय सोपान पर स्थित निमित्तवाद भी यद्यपि अहकार का ही रूप है, तदपि यहाँ उसको अपने पुरुषार्थ की सफलता के लिए वाह्य निमित्तो की शरण कुछ आवश्यक-सी प्रतीत होने लगी है। इसकी दृष्टि मे निमित्त का वल पुरुषार्थ से अधिक है। क्योकि समुचित निमित्तों के अभाव में पुरुषार्थ को झक मारनी पड़ती है। कार्यगत विपरीतताओं का कारण भी वास्तव में पुरुषार्थ को भूल नही है, प्रत्युत समुचित निमित्तो का अभाव ही है, क्योकि जान वूझकर अपने पुरुषार्थ में भूल कौन करता है?

३. तृतीय सोपान पर आकर कार्य तथा फल की विपरीतताओं के कारण अहंकार कुछ लज्जित-सा हुआ प्रतीत होता है, और भाग्यवाद का रूप धारण करके रंगमंच पर आता है। यहाँ उसे लाचार होकर अपने पुरुपार्थ पर तथा निमित्तो की उपलब्धि पर भाग्य का शासन स्वीकार करना पड़ रहा है, क्योंकि विना चाहे भी पुरुषार्थ की भूल कभी-कभी हो ही जाती है और इसी प्रकार अनु-

कूल निमित्तो के स्थान पर प्रतिकूल निमित्त भी कभी-कभी मिल ही जाते है। इसमें व्यक्ति का अपना कोई वश नही है। अनुकूलता तथा प्रतिकूलता सब भाग्य के अधीन है। जैसा जैसा भाग्य होता है वैसा-वैसा ही काय तथा उसका फल हुआ करता है, और वैसा-वैसा ही निमित्त मिला करता है।

४ ये तीनो वाद वास्तव में अहकार के कर्तृत्वाभिमान की उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य दशाएँ है। चतुर्थ सोपान पर आकर वह अपना मुँह छिपाता सा प्रतीत होता है, और एक वैज्ञानिक का रूप धारण करके अपने अधिकार को बनाये रखने का प्रयत्न करता है। स्वभाववाद का सिद्धान्त समक्ष रखकर यहाँ उसका अपना कुछ न कुछ स्वभाव तो होता ही है। स्वभाव होने के कारण वह अहेतुक तथा अतर्क्य है। 'इसके कारण ही सकल पदार्थ अपना अपना काय रहे हैं ऐसा मान लेने म आपको क्या हानि है ? यद्यपि भाष्य कुछ नम्र है परन्तु अभिप्राय कठोर है क्योंकि स्वभाव के नाम से यहा भी वास्तव म अहंकार का कर्तृत्वाभिमान ही नाच रहा है, पुरुषार्थ करते रहना जिनका स्वभाव है।

५ ज्ञानियो की तीक्ष्ण दृष्टि को यह धोखा कैसे दे सकता है ? वे काल की शक्ति के सामने इसको अत्यन्त तुच्छ देखते हैं। काल के प्रवाह मे ही यह सकल विश्व तथा इसके सकल जड चेतन पदार्थ विवश बहे चले जा रहे हैं न चाहते हुए भी अपने नाम, रूप तथा कर्म बदले जा रहे हैं। काल के पाश में बँधा हुआ ही जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म उत्पत्ति के पश्चात् विनाश और विनाश के पश्चात् उत्पत्ति दिन के पश्चात् रात और रात के पश्चात् दिन सृष्टि के पश्चात् प्रलय और प्रलय के पश्चात् सृष्टि का यह अनादि चक्र सदा चलता रहा है चल रहा है और चलता रहेगा। इसे रोकने की सामर्थ्य न तो पुरुषार्थ में है न निमित्त म और न भाग्य मे। स्वभाव नाम से जा तू कह रहा है, वह भी सकल पदार्थों के अनुकूल तथा प्रतिकूल काय का होना, अथवा उसके अनुकूल तथा प्रतिकूल निमित्तो का मिलना, अथवा उसके अनुकूल तथा प्रतिकूल भाग्य का उदय होना, ये सब बातें काल के अधीन हैं।

६ कार्य कारण व्यवस्था के षष्टम सोपान पर स्थित यदृच्छावाद भी कालवाद का ही पर्याय है। इसकी दृष्टि म काल अन्धा है, इसलिए 'कब तथा कहाँ पुरुषार्थ के अनुकूल काय हो और कब तथा कहाँ प्रतिकूल' ऐसा कोई विवेक उसे होना सम्भव नही है। यही कारण है कि जो कुछ भी आगे होना होता है उसका ज्ञान पहले से हमारा नही रहता। यदृच्छा अर्थात् अकस्मात् ही अनुकूल या प्रतिकूल जो होना होना है हो जाता है।

७. सप्तम सोपानपर स्थित 'नियतिवाद' भी कालवाद का ही एक रूप है, परन्तु इसकी दृष्टि यदृच्छावाद की अपेक्षा बहुत अधिक सूक्ष्म है। उसे इस जगत् में कुछ भी जड़ दिखाई नही देता। विश्वव्यापी वह तत्व जिसका कि उल्लेख अन्तिम सोपान पर 'ईश्वर' के नाम से किया जानेवाला है, चेतन है। चेतन की ही स्फुरणा होने से काल भी चेतन है, अन्धा नही। यह तो श्रद्धा की बात है। वैज्ञानिक जिस ईथर को जड़ देखता है, उसे ही भारत का दार्शनिक चेतन देखता है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो न उनके पास है, न इसके पास। इस विषय का विस्तार पहले किया जा चुका है, यहाँ केवल इतना बताना इष्ट है कि काल का विधान अन्धा नहीं है। इसको आगमिक भाषा मे 'यमराज' कहा गया है, जो इस सकल विश्व का नियंत्रण कर रहा है। इसलिए इसके विधान में अकस्मात् तथा निष्कारण कुछ भी नही होता। जो जहाँ जब जैसा होना निश्चित है, वह वहाँ तब वैसा ही होता है, अन्य प्रकार नही। पुरुषार्थ भी जैसा होता है, वैसा ही होता है और निमित्त भी जो मिलना होता है, वही मिलता है। यमराज के इस विधान में हस्तक्षेप करने का इन्द्र-धरणेन्द्र आदि किसी को भी अधिकार नही है, तब मनुष्य के अहंकार की तो बात ही क्या।

इस सोपान पर अहंकार पर कडी चोट पड़ती है। उसका कवच टूट जाता है और इसलिए पुरुषार्थवाद की दुहाई दे-देकर वह जगत् के द्वार खटखटाने लगता है। उसे निष्कर्म तथा अपंग बन जाने का भय दिखाने लगता है। परन्तु पूर्व अधिकारों को पढ़कर जिसने तत्व की शक्ति को ठीक-ठीक समझ लिया है, उसको इसकी यह चीख-पुकार कैसे सुनाई दे सकती है? भले ही भौतिक जगत् मे उसे कुछ सहानुभूति प्राप्त हो जाय, परन्तु ईश्वर की ओर उन्मुख तत्ववादी उसके साथ सहानुभूति कैसे कर सकता है?

८. सब ओर से निराश होकर अहकार अब जीवात्मा की शरण में जाता है और उससे अपनी रक्षा की भीख माँगता है। परन्तु यहाँ उसकी सुनवाई कैसे हो सकती है, क्योंकि जीवात्मा तो घटाकाश की भाँति वास्तव में परमात्मा ही है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इतना होने पर भी अहंकार अपना कर्तृत्व छोड़ने को तैयार नही। जीवात्मा के चरणों में लेट कर अन्तिम बार उससे सहायता माँगता है और कहता है कि मुझपर कृपा करके इतना तो आप कह ही सकते हैं कि मेरा लक्षण 'अहं प्रत्यय' है। बस, इतना कह देने मात्र से मेरा काम चल जायगा। क्योकि काल का यह विधान स्वतंत्र न होकर आपके कर्मों के अथवा संस्कारों के अधीन है, ऐसा पहले कहा जा चुका है। आपके अधीन होने का अर्थ है 'अहं प्रत्यय' के अधीन और 'अहं

प्रत्यय' के अधीन का अर्थ है अहकार के अधीन। बस आपके मुँह से 'अहं प्रत्यय' का शब्द निकला नही कि करना मेरे अधीन हुआ नही।

८ अहकार की इस भूल को सुझाते हुए अष्टम सोपान पर स्थित आत्मवाद बडे प्रेम से उसे समझाता है कि भैया ! अब बस कर। अपनी हार मान ले। इन मायावी हथकण्डो के द्वारा तू विश्वव्यापी महाशक्ति को जीत नही सकता। तू स्वय देख रहा है कि तू काल के प्रबल चक्र म पिसा जा रहा है। तेरे जैसा क्षुद्र कीट इसे ललकार रहा है, यह बडा आश्चर्य है। तेरी तो बात नही, मैं भी उस महातत्त्व के सामने कुछ नही हूँ। उसी का एक उपाधिकृत अश हूँ। इसलिए मेरे 'अहं प्रत्यय' का अर्थ अहकार नही है, प्रत्युत वह परमात्मा ही है, जिसका मैं अश हूँ। मैं जो कुछ करता हूँ, वह वास्तव में वही करता है, क्योकि उसके अतिरिक्त मेरी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। इसलिए हे भाई ! अब तू अपने इस मिथ्या अभिमान को छोड और उसी की शरण को प्राप्त हो, जिसम से यह सारा जगत् निकल आ रहा है और जिसम यह डूबा जा रहा है। घबरा मत, वह तुझे दुतकारेगा नही, बल्कि अत्यन्त प्रेम के साथ तुझे गले से लगाकर आत्मसात् कर लेगा, अपने मे समाकर तुझे अणु से महान् बना देगा।

९ जीवात्मा की इस अनाग्रह वृत्ति तथा निस्पृहता को देखकर जगन्माता भगवती प्रकृति उसे गोद मे उठा लेती है और उसका मुख चूमकर अहकार सहित इसको अपने मे समा लेती है। उसका यह विशाल प्रेम देखकर काल भी यदृच्छा तथा नियति को साथ लिये उसके चरणों म लेट जाता है और उससे कृपा की भीख माँगने लगता है। तब उसके शरीर से एक ज्योति निकलती है और माँ की ज्योति म समाकर विलीन हो जाती है। इस प्रकार निमित्तवाद, भाग्यवाद तथा स्वभाववाद को झोली मे रखकर अहंकार का पुरुषार्थवाद आत्मवाद मे लीन हो जाता है। उन चारों के सहित यह आत्मवाद प्रकृति माँ की महाशक्ति मे समा जाता है। इसी प्रकार यदृच्छावाद तथा नियतिवाद को साथ लेकर कालवाद भी उसी म लय हो जाता है।

रंगमच पर अब अकेली माँ ही शक्तिवाद का सौम्य रूप धारण करके खडी रह जाती है। यहाँ न तो कुछ नया उत्पन्न होता है और न कुछ पुराना नष्ट होता है। कालगत परिवर्तन की प्रतीति वास्तव मे भ्रान्ति है, क्योंकि सत् का नाश और असत् का उत्पाद सम्भव नही। परिवर्तन के रूप म जो कुछ दिखाई द रहा है, वह वास्तव म उत्पत्ति विनाश नही, आविर्भाव तथा तिरोभाव है, उन्मज्जन तथा निमज्जन है। सृष्टि के गर्भ मे जो पहले म

विद्यमान है, उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं, जिस प्रकार शक्ति रूप से बीज में निहित वृक्ष की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नही ।

१० सबके अन्त में ईश्वरवाद आता है, जिसके समक्ष मां उसी प्रकार लज्जा से अपना मुँह ढक लेती है, जिस प्रकार कोई भी पतिव्रता पत्नी अपने प्रिय पति के समक्ष । इसका कथन आगे पृथक् से किया जानेवाला है ।

यद्यपि साम्प्रदायिक क्षेत्र मे ये दसो वाद परस्पर में लड़ते-झगड़ते प्रतीत होते हैं, तदपि अहं-शून्य ज्ञानी इन सबको सोपान-क्रम से यथास्थान सजाकर विश्वगत एक अखण्ड कार्य-कारण व्यवस्था का दर्शन करता है, और अपने कर्तृत्वाभिमान को उसमे विलय करके नैष्कर्म्य के दिव्य लोक में प्रवेश पा जाता है । संकल्प तथा कामनावश कुछ भी अपने स्वार्थ के लिए न करके वह लोक-संग्रह के लिए जो सहज रूप से उसे प्राप्त होता है, उसे ही अत्यन्त प्रेम के साथ कर लेता है । यही है उसकी जीवन्मुक्ति ।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि, कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

'जगत् की कार्यकारण व्यवस्था का सन्धान करने के लिए कुछ योगीजनो ने विचार किया कि इस विषय में न तो काल ही कारण सिद्ध होता है, न स्वभाव, न नियति, न यदृच्छा और न पुरुषार्थ । पृथक्-पृथक् की तो बात नही । इन सबका संयोग भी तर्क की कसौटी पर ठीक नही उतरता, क्योकि बिना किसी चेतन तत्त्व के उनका स्वयं सयोग होना सम्भव नहीं । यदि जीवात्मा को इनका संयोक्ता मान लें, तो वह भी उचित नही जँचता, क्योकि सुख तथा दुःख की प्राप्ति उसे उसकी अपनी इच्छा के अनुसार नही होती, इसलिए इस विषय मे वह बेचारा स्वयं परतंत्र है । तब वह कारण क्या है, ऐसा चिन्तन करते-करते जब वे समाधिस्थ हो गये तो उन्होंने ईश्वर की त्रिगुणमयी शक्ति का दर्शन किया और काल तथा आत्मा से युक्त इन सकल कारणो को उस अकेली में ही प्रतिष्ठित देखा ।'

अहा हा ! कितना मधुर है यह । आखो म छलछलाता प्रेम और अधरो पर मधुर मुस्कान, बाहो मे आलिगन और हाथा मे विरद, हृदय मे आत्मसात् कर लेने की शक्ति और वाणी म विचित्र आकर्षण । अपनी इन सब देवी विभूतियो से युक्त ईश्वरवादी भी एक कोने मे बैठा यह सब सवाद चुपके चुपके सुन रहा था और अपने बच्चो की इस लीला पर भीतर ही भीतर मुस्करा रहा था। आखिर उसे भी बोलना पडा—

हे तत्त्ववादिन् ! तू मुझे अतिप्रिय है, परन्तु तेरी बात सत्य होते हुए भी न जाने इस अहकार को क्यो नीरस तथा शुष्क-सी लग रही है, सम्भवत इसलिए कि इसे बाहर म घूमते रहने की टेव पड गयी है। आत्मा तथा शक्ति की बात सुन कर भी वह केवल श्रवण मनन निदिध्यासन के ही चक्कर म अटका रह जाता है, अथवा दूसरों को समझाने में ही गव धारण कर बैठता है कि 'मैं तत्त्व को समझ गया हूँ'। न वह प्रयत्न करता है उसमे प्रवेश पाने का, और न उसे उसका कुछ रस आता है। रस आता रहता है उसे केवल उपयुक्त गर्वीली वृत्तियो का। यद्यपि इसमे तेरा कोई दोष नही, परन्तु उसके कारण से तेरा प्रयोजन सिद्ध नही हो पाता। तू क्या करे, अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कारण यह अहकार अपने भीतर स्थित तेरे इस तत्त्व को देख ही नही पाता, तब इसकी ओर आकर्षित कैसे हो ? क्या ही अच्छा होता यदि तू अपने इस तत्त्व को, आत्मा परमात्मा भूमा आदि न कह कर 'ईश्वर' नाम दे देता, जिससे कि वह इसे अपने से पृथक् बैठकर देख सके, इसके प्रति प्रेम तथा भक्ति जागृत कर सके और इसके मनमोहक रूप पर मुग्ध होकर स्वय को इसके चरणो म समर्पित कर सके।

ईश्वर ही सर्वेसर्वा है, इस समष्टि का तथा इसकी विविध व्यष्टियों का धाता विधाता तथा होता है। भगवन्ता नियन्ता तथा हन्ता है। बाह्य जगत का तथा उसकी क्रियाओ का और इसी प्रकार अन्तरग जगत् का तथा उसकी क्रियाओ का, नाम रूपगत विविध आकार धर्म प्रकारो का, और कर्मगत विविध क्रियाओ का तथा ज्ञान विज्ञानो का भी। अकाट्य है उसका विधान। क्षुद्र अहकार की तो बात क्या, ब्रह्मा तथा इन्द्र तक की भी क्या मजाल कि उल्लघन कर सकें उसका। पत्ता भी हिल सकता नही उसकी आज्ञा के बिना,

तू हाथ भी उठा सकता नही उसकी आज्ञा के विना, और अन्दर में विचार भी कर सकता नहीं उसकी आज्ञा के विना, फिर घट-पट आदि वनाने का तो प्रश्न ही क्या !

उसी के तेज से तेजयुक्त हैं सूर्य, अग्नि तथा चन्द्र। उसी की शक्ति से घूम रहा है सौरमण्डल एक क्षुद्र अणु-मण्डल की भांति। उसी की क्रिया से क्रियाशील है सारा जगत्। उसी के आश्रय पर गरज रहे हैं ये अग्नि, वायु तथा जल, और गर्व कर रहे हैं सकल विश्व को लीला मात्र में जला देने का अथवा उड़ा देने का अथवा डुवा देने का। प्रभु-शरण-विहीन की भांति अहंकारवश उससे विमुख हो जाने पर ये सव वनकर रह जाते हैं तृण से भी अधिक तुच्छ। तृण को भी जलाने उड़ाने या वहाने मे समर्थ नही हो पाते हैं वे तव। मुंह छिपाने को भी स्थान नही मिलता उन्हे तव।

अरे अहंकार ! मत घवरा यह सव कुछ सुनकर। यहां अपने उपास्य के रूप में ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किये गये मुक्तात्माओ की वात नही हो रही है। ठीक ही वे कुछ कर्ता हर्ता नही हैं। यहाँ तो वात है उस विराट् तत्त्व की, जिसका विस्तृत विवेचन अव तक किया गया है। कुम्भकार की भाँति इच्छापूर्वक कुछ करनेवाला नही है वह, वल्कि है नामरूपात्मक सकल कार्यों मे अनुगत कारण रूप से कुछ करनेवाला।

आ ओ अहंकार आ, लेट जा इसके चरणो मे और कह दे एक वार कि हे प्रभु ! मैं भूला था। वास्तव में मैं कुछ भी नही करता। आपके कर्म को अपना कर्म समझ कर झूठा गर्व करता था। आपका व्यापक रूप आज तक देख नही सका, इसीलिए इस झूठे कर्तृत्वाभिमान के द्वारा स्वयं अपना नाश करता रहा। आज तक क्षुद्र वना वैठा रहा और इस क्षुद्र को ही अभिमान-वश महान मानता रहा। हे प्रभु ! क्षमा कर दो अव मेरी इस नादानी को। दयालु है न आप ! न देखो मेरे दोषों को, चितारो अपने विरद को, अपना लो मुझे, उठा लो इस अपने कुपुत्र को भी अपनी इस प्यार भरी गोद में। आप ही का तो हूं न मैं ? आज तक भूला था, अव पुनः लौट आया हूँ आपकी शरण में। अरे अहं ! विश्वास कर, वडे दयालु हैं ये। रो दे एक वार शिशु की भाँति, इनकी आँखों में आँखें डालकर, और तू देखेगा कि छाती से लगा लिया है इन्होंने तुझको। छोड़ अपनी संकीर्ण परिधि और सुन इसमें डूवकर इसकी मधुर वंशी। तव तू देखेगा कि वास्तव में तू है ही नही, उसके साथ घुल-मिलकर सत्ताहीन हो चुका है तू, विन्दु की भाँति सागर में समा कर भूमा वन चुका है तू।

अरे रे ! फिर वही। कितना धूर्त है ! आखिर है तो अहंकार न ? कैसे छोड सकता है अपनी टेव ? तुझे आदत जो पड गयी है अपनी पृथक् सत्ता देखने की, इतना ही नही बल्कि उसको सर्वोपरि स्थापित करने की। अपने सामने दिखाई ही क्या देता है तुझे ? सब दीखते हैं तुच्छ। प्रभु की तो बात नही, वे तो हैं ही अत्यन्त परोक्ष, तू तो अपने भाइयो को भी अपने सामने कुछ नही समझता।

अरे भाई ! सँभल सँभल, थोडी देर के लिए शान्त हो और विचार कि कौन है तू ? तू है प्रभु, परन्तु अपने को उससे पृथक् समझकर स्वय बन गया है क्षुद्र। क्षुद्र हो जाने पर भी अपने को महान् समझना, यह तेरा स्वभाव है। झूठ नही है, वास्तव में महान् है ही तू, यदि अपनी इस भ्रान्तिपूर्ण पृथक् सत्ता को प्रभु की विशाल सत्ता मे घोल दे तो प्रभु है ही तू।

मत शका कर प्रभु के साकार हो जाने की। डर मत। कल्पना करने मात्र से वह साकार नही हो जायेगा। प्रयोजनवश भले उसे साकार बना कर देखा गया हो, परन्तु वास्तव मे रहेगा तो वह निराकार ही तथा व्यापक ही। कल्पना होते हुए भी निरी कल्पना नही है यह, कवियो के द्वारा मचित किया गया सत्य है यह।

भक्तियोग समझ कर इससे चिढने की भी बात नही है, क्योकि भक्ति योग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग मे समन्वय किया जा चुका है। इसी प्रकार अकर्मण्य हो जाने की शका को भी अवकाश नही है यहाँ, क्योकि उसका भी निरास पहले किया जा चुका है।

इसी प्रकार परतन्त्र हो जाने का भी भय मत कर, क्योकि इससे मिलेगी तुझे सच्ची स्वतन्त्रता। जड-चेतन सभी दूसरे पदार्थों को अपने अनुकूल चलने को, उन्हें अपने अनुरूप ढालने की। तेरी कामना ही वास्तव मे तेरी परतन्त्रता है। देख, इसके कारण तू सदा उन्हीं का चिन्तन करता रहता है, उन्हीं के चारों ओर मँडराता रहता है उन्ही की ओर ललचायी ललचायी दृष्टि मे देखता रहता है और उन पर अपनी महत्तता की छाप लगाने के लिए सतत प्रयत्न करता रहता है। इतना होने पर भी वे तेरी सुनते नही हैं। सुनें भी कैसे,

वे भी तो तेरी ही भाँति दूसरो की परिक्रमा करते रहने के कारण परतन्त्र हैं। इस प्रकार नित्य परतन्त्रों के अधीन रहते हुए भी तू अपने को स्वतन्त्र समझे वैठा है। इससे वड़ी भ्रान्ति और क्या हो सकती है ?

इस परिधि से वाहर निकल कर एक क्षण के लिए अपनी ओर झांकने तक का तुझे अवकाश नही। फिर भी तू अपने को स्वतन्त्र समझे वैठा है, यह तेरी भूल नही तो और क्या है ? जव तक तू प्रभु से विमुख हुआ वाहर घूमता रहेगा, तव तक इसी प्रकार परतन्त्र वना रहेगा; और जव अन्तर्मुख होकर उसकी शरण मे आ जायेगा तव तू स्वतंत्र हो जायेगा, क्योकि अपनी व्यापक सत्ता अनुभव कर लेने के कारण तव न रहेगी तुझे आवश्यकता किसी को अनुकूल वनाने की, और न किसी की ओर लखाने की। हो जायेगा तू सर्वरूप और यह सव हो जायेगा तू स्वरूप।

अपने सकीर्ण कर्तृत्वाभिमान के कारण जव तक तू वाहर में घूमता रहेगा, और ऐसी प्रतीति करता रहेगा कि 'मै करता हूँ या मैंने किया है, यह अच्छा कार्य हुआ या यह वुरा कार्य हुआ', तव तक अपने सकल शुभाशुभ कर्मो का उत्तरदायित्व तेरे सिर पर अवश्य आता रहेगा और इसलिए उसका इष्टानिष्ट फल भी तुझे अवश्य प्राप्त होता रहेगा, क्योंकि कर्म का उत्तरदायित्व तथा फल कर्ता को प्राप्त न हो तो किसको हो ? 'जो करे सो भोगे'—यह न्याय प्रसिद्ध है। परन्तु जव इस कर्तृत्वाभिमान को प्रभु के चरणों मे समर्पित करके तू हलका हो जायेगा, तव तू सकल कर्मो के उत्तरदायित्व से तथा उनके इष्टा-निष्ट फलो से भी मुक्त हो जायेगा। क्योंकि उस अवस्था मे किसी भी प्रकार के स्वार्थ-पोषण का भाव तेरे चित्त मे स्फुरित नही हो सकेगा और इसलिए तुझे अपने लिए तथा अपने संकल्प से कुछ भी कार्य करने की आवश्यकता प्रतीत नही हो सकेगी। लोकसग्रह के लिए होने के कारण तेरे सकल कार्य उस अवस्था मे दूसरो की प्रसन्नता अथवा इच्छा पर निर्भर होगे, जिस प्रकार पिता की प्रसन्नता के लिए उसकी आज्ञा से काम करनेवाले पुत्र का वह कर्म अपनी इच्छा से न होकर पिता की इच्छा से होता है। इस अवस्था में तू अपने किसी भी कार्य का कर्तृत्व अपना न देखकर प्रभु का देखेगा, किसी भी कार्य में अपनी इच्छा न देखकर प्रभु की इच्छा का अनुभव करेगा, सव कार्यों मे उसकी प्रेरणा तथा शक्ति का दर्शन करेगा, मानों कि तू एक कठपुतली मात्र है, जिसे वह अपनी इच्छा से नचा रहा है।

इस अवस्था में तेरे सकल कर्म निष्काम होने से निष्फल होगे। न तेरे लिए रह जायेगा कुछ पुण्य, न पाप। अथवा यों कह लीजिये कि जिस प्रकार

कार्य करते हुए तुझे ऐसी प्रतीति होती है कि 'मैं नहीं कर रहा हूँ, वही कर रहा है,' इसी प्रकार उसका फल भोगते हुए भी तुझे ऐसी प्रतीति होगी कि मैं नहीं भोग रहा हूँ, वही भोग रहा है। कामनापूर्वक किये गये व्यापार के द्वारा जो धन प्राप्त होता है, उसमे यह प्रतीति होती है कि यह धन मेरा है, परन्तु सेठ के लिए किये गये व्यापार के द्वारा धन मुनीम को प्राप्त होता है उसमें उसे ऐसी प्रतीति नहीं होती कि यह धन मेरा है, प्रत्युत ऐसी प्रतीति होती है कि यह मेरा नहीं, सेठ का है। इसी प्रकार कामनापूर्वक किये गये कर्म के फल में ही ऐसी प्रतीति होती है कि यह दुःख अथवा सुख मुझे प्राप्त हो रहा है, परन्तु दूसरे की प्रसन्नता के लिए किये गये कर्म के फल में ऐसी प्रतीति होती है कि यह सुख-दुःख आदि सब मेरे प्रति नहीं हो रहे हैं, प्रत्युत दूसरा के प्रति ही हो रहे हैं अथवा प्रभु के प्रति हो रहे हैं।

अतः अब छोड़ सर्व विकल्पों को और आ जा उसकी शरण में। उसका वास हृदय में है, जहाँ किसी प्रकार की कृत्रिमता सम्भव नहीं। चाहते हुए भी उसकी कृपा के बिना तू वहाँ पहुँच नहीं सकता और न चाहते हुए भी उसकी कृपा प्राप्त हो जाने पर तू वहाँ पहुँचे बिना रह नहीं सकता, तथा एक बार उसकी कृपा से वहाँ पहुँच जाने पर तू हजार प्रयत्न करने पर भी वहाँ से वापस आ नहीं सकता। भैया! प्रभु के राज्य में टाँग अड़ाने का तुझे न अधिकार है और न सामर्थ्य। अनन्य भक्ति तथा एकनिष्ठ शरणापत्ति ही इस दिशा में है तेरा सच्चा पुरुषार्थ।

इन्हे भी पढ़िए

पुस्तक	मूल्य
क्रान्ति-दर्शन	[illegible].००
समणसुत्तं (अजिल्द)	१६.००
समणसुत्तं (सजिल्द)	२०.००
कोरे पत्र का जवाब	२.००
जीवन-भाष्य (भाग १)	२०.००
जीवन-भाष्य (भाग २)	(प्रेस में)
तनाव से मुक्ति और ध्यानदीप	३.००
जीवन और अभय	८.००
जीवन और सुख	१०.००
गीता-तत्त्व-बोध (खण्ड १-२)	१०८.००
अज्ञान-निवृत्ति-साधना के सप्तह पहलू	०.६०
जीवन-साधना	६.००
पथ-दीप	१.५०
अध्यात्म-वाणी	०.५०
धर्म क्या कहता है ? (१२ भाग)	
१. धर्मों की फुलवारी	१.७५
२-३-४. वैदिक धर्म क्या कहता है ? (३ भाग) प्रत्येक	१.७५
५. जैन धर्म क्या कहता है ?	१.७५
६. बौद्ध धर्म क्या कहता है ?	१.७५
७. पारसी धर्म क्या कहता है ?	१.७५
८. यहूदी धर्म क्या कहता है ?	१.७५
९. ताओ और कन्फ्यूश धर्म क्या कहता है ?	१.७५
१०. ईसाई धर्म क्या कहता है ?	१.७५
११. इस्लाम धर्म क्या कहता है ?	१.७५
१२. सिक्ख धर्म क्या कहता है ?	१.७५
सामूहिक प्रार्थना	१.५०
प्रार्थना (श्री विष्णुसहस्रनाम-सहित)	०.६०
प्रार्थना	०.२५
लोक-क्रान्ति-पाथेय (धीरेन्द्र मजूमदार स्मृति-ग्रन्थ) लोक-संस्करण	५०.००
पुस्तकालय संस्करण	७०.००
शिक्षा में क्रान्ति	३.००
नयी बुनियाद की तालीम : इतिवृत्त	८.००
Selections From Vinoba	50.00
मालिश का मर्म	५.००
धर्म-चेतना	१.५०
आत्म-चिन्तन	३.००
नागरिक-विश्वविद्यालय	२.००
सत्प्रेरणा (मधु-संचय)	३.००
हुतात्मा : प्रभाकर शर्मा	६.००
जीवन-ज्योति	३.००
जीवन और सुख	१०.००
ईशावास्योपनिषद् (विवेचन)	६.००
योग-द्वारा बुढ़ापे से मुक्ति	३.००
योग-द्वारा सौन्दर्य-रक्षा	२.५०
गीता-तत्त्व-बोध (खण्ड १-२)	१०८.००
संकेत और संकल्प	४.५०
गृह-वाटिका	४.००
ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्	१२.००
समणसुत्तं	२०.००
सत्य-दर्शन	(प्रेस में)
संधिवात की प्राकृतिक चिकित्सा	"
हार्निया की प्राकृतिक चिकित्सा	"
जीवन-भाष्य (भाग २	
कैन्सर	
भारत किधर ?	

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी-२२१००१